ऋग्वेदभाष्यभूमिका

प्रणेता

डा० रामअवध पाण्डेय

294.59212
SAY

ीलाल बनारसीदास

दिल्ली :: पटना :: वाराणसी

920 (90)

श्रीसायणाचार्यविरचिता

ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका

(हिन्दी अनुवाद सहिता)

वेद. ९६४

अनुवादक

राम अवध पाण्डेय

व्याकरणाचार्य, एम० ए०, पीएच० डी०

रविनाथ मिश्र

एम० ए०, पीएच० डी०

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली : वाराणसी : पटना

© मोतीलाल बनारसीदास

प्रधान कार्यालय : बंगलो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली–७
शाखाएँ : १. चौक, वाराणसी (उ० प्र०)
२. अशोक राजपथ, पटना–४

294.59212
SAY

प्रथम संस्करण : १९७४
मूल्य रु० ५.००

नेपाल साहित्य केन्द्र
मूल्य नेरु 61.50... ...

11882

सुन्दरलाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, चौक, वाराणसी द्वारा प्रकाशित, तथा वर्धमान मुद्रणालय, जवाहर नगर कॉलोनी, वाराणसी द्वारा मुद्रित।

वे ·१६४

विनिवेदन

भारतीय संस्कृति ही क्या यदि उदारता से कहा जाय तो पूरी मानवीय संस्कृति का मूलग्रन्थ वेद हैं। वेद चाहे अपौरुषेय माना जाय, चाहे स्वयं जगत् की सृष्टि करनेवाले का निःश्वास माना जाय, चाहे इसे किसी की निर्मिति मानकर निर्मिति के काल का निश्चय किया जाय, यह इतना सुनिश्चित है कि वेद मानवीय विद्या के इतिहास में प्राचीनतम ग्रन्थ माना जाता है। वेद में जहाँ एक ओर अत्यन्त भौतिक उपलब्धियों एवं साधनों का वर्णन मिलता है वहीं दूसरी ओर पूरी भौतिक सम्पत्ति के मूल में स्थित परब्रह्म की प्राप्ति के उपाय भी वर्णित हैं। अतएव 'वेदोऽखिलं धर्ममूलं' कहा गया है। इसी अत्यन्त गूढ़ एवं रहस्य बने वेद को भली-भाँति समझने के लिए शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त आदि छहों अंगों का अध्ययन अति प्राचीनकाल से होता आ रहा है। इतना ही नहीं अपितु अन्य पुराण एवं न्याय आदि शास्त्रों का उद्देश्य भी वेदों को बोधगम्य बनाना ही है। विद्वानों का कहना यह भी है कि जो पुराण स्मृति इत्यादि अथवा जो उनके अंश वेदविरुद्ध पड़ते हों वे सब मान्य नहीं हैं अपितु वेद का प्रतिपाद्य ही शिरोधार्य है। यह बात दूसरी है कि वेदों के भाष्यों में, वेदमूलक ग्रन्थों में अनेक मतभेद पग-पग पर पाये जाते हैं किन्तु इन मतभेदों के आधार पर यह निर्णय ले लेना कि वेद का प्रतिपाद्य ही विवाद-ग्रस्त है, बहुत बड़ा बचकाना कार्य होगा। उन मतभेदों पर यदि धैर्य से विचार किया जाय तो निस्सन्देह उनमें संगति दिखायी देगी। और यदि उन्हीं वेदग्रन्थों में कोई इतिहास, कोई विज्ञान ढूँढ़ निकालता है तो हम समझते हैं कि वेद के महत्त्व में चार चाँद ही लग रहे हैं न कि उनकी महत्ता पर कोई आँच आ रही है।

वेद एक ही ग्रन्थ है किन्तु किन्हीं दृष्टियों से समझने के लिए इसके चार भेद किये गये हैं—ऋग्, यजुः, साम और अथर्व। वेद, उनके ब्राह्मण जो कर्मकाण्ड के प्रतिपादक वेद के व्याख्यान भूत हैं और उपनिषद् जो ब्रह्मकाण्ड के प्रतिपादक हैं, सभी वेद नाम से ही गृहीत हैं। यह इसी प्रस्तुत भाष्य भूमिका में सिद्ध किया गया है। उत्तरकाल में जैसे-जैसे मानव अल्पज्ञ होता गया और जैसे-जैसे वैदिक परम्परा से दूर होता गया वैसे-वैसे उस अल्पज्ञ और परम्परा से दूर मानव को समझाने के लिए

ऋषिकल्प आचार्यों ने कृपाकर इन वैदिक ग्रन्थों के भाष्य लिखे। परिणामस्वरूप सायण के पूर्व माधवभट्ट, स्कन्दस्वामी, नारायण, उद्गीथ, वेंकटमाधव; त्तैतिरीय संहिता के भवस्वामी, गुहदेव, भट्टभास्कर; शुक्ल यजुर्वेद के उव्वट, महीधर, हलायुध; सामवेद के माधव, भरतस्वामी और गुणविष्णु ने भाष्य लिखे। किन्तु सायणाचार्य एक ऐसे भाष्यकार हुए जिन्होंने सभी वेदों पर पाण्डित्यपूर्ण भाष्य लिखा। यह सच है कि यदि सायण का भाष्य न होता तो वेद का अर्थ दुर्गम ही बना रहता किन्तु यह भी सच है कि सायणाचार्य के भाष्य के आधार पर वेदों को समझकर पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी दृष्टि से कुछ विसंगतियोंको भी दिखाने का प्रयत्न किया है जो विचारणीय है।

वेदभाष्यों के अतिरिक्त सायणाचार्य ने विभिन्न विषयों के अनेक ग्रन्थ लिखे।

१. सुभाषित सुधानिधि—जिसमें नीति वाक्यों का संग्रह है।
२. कर्मविपाक या प्रायश्चित्त सुधानिधि—जिसमें प्रायश्चित्तों का प्रतिपादन किया गया है।
३. अलंकार सुधानिधि—जिसमें काव्यालंकारों का प्रतिपादन किया गया है।
४. धातुवृत्ति—जिसमें पाणिनीय धातुसूत्रों की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की गयी है। यह धातुवृत्ति माधवीया धातुवृत्ति के नाम से प्रसिद्ध है।
५. पुरुषार्थ सुधानिधि—जिसमें पुरुषार्थोपयोगी, पुराणों के वाक्यों का संग्रह है।
६. आयुर्वेद सुधानिधि—जिसमें आयुर्वेद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।
७. यज्ञतन्त्र सुधानिधि—जिसमें यज्ञ के अनुष्ठान की विधियों का वर्णन है। तथा
८. वेदभाष्य।

इन ग्रन्थों में स्वयं ग्रन्थकार द्वारा उल्लिखित प्रमाणों के आधार पर तथा विजयनगर के महाराजाओं के शिलालेखों और शासनपत्रों के आधार पर आचार्य पण्डित वलदेव उपाध्याय ने सायणाचार्य के जीवन आदि के सम्बन्ध में 'वेदभाष्यभूमिकासङ्ग्रह' ग्रन्थ की भूमिका में अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण विचार प्रस्तुत किया है।

सायण के पिता का नाम मायण था और माता का नाम श्रीमती। इनका गोत्र भारद्वाज था। इनके दो भाई और थे। माधवाचार्य इनके ज्येष्ठ भ्राता थे जो विजयनगर साम्राज्य के संस्थापक हरिहर के प्रधान मन्त्री थे तथा छोटे भाई भोगनाथ संगमनरपति के सचिव थे। इन तीनों के तीन गुरु थे विद्यातीर्थ, भारती तीर्थ तथा श्रीकण्ठ। काशी के शासन-पत्र में सायणाचार्य श्रीकण्ठाचार्य को अपना गुरु बतलाते हैं।

सायणाचार्य अपने इस शास्त्रीय व्यसन के साथ ही विजयनगर के चार महाराजाओं—बुक्क, कम्पराज, संगमराज (द्वितीय) तथा हरिहर (द्वितीय) के महामन्त्रिपद पर भी विराजमान थे। इसलिए बुक्क और हरिहर के प्रधानमन्त्री श्री सायण का समय १५ वीं शताब्दी ईसा का पूर्वार्द्ध माना जाता है। जनश्रुति के आधार पर सायणाचार्य का निधन १३८७ ई० माना जाता है।

सायणाचार्य ने ऋग्वेद भाष्यभूमिका में ऋग्वेद का पूज्यत्व सिद्ध करने के साथ ही यजुर्वेद का व्याख्यान क्यों सर्वप्रथम किया, इसका कारण बतलाया है तथा वेद की सत्ता, मन्त्र की प्रामाणिकता एवं मन्त्रों में अर्थ बोधकता, मन्त्र और ब्राह्मण दोनों की वेदस्वरूपता, विधि भाग और अर्थवाद भाग की प्रामाणिकता, वेद की अपौरुषेयता, अध्ययन की दृष्टफलता, अध्ययनविधि अक्षरप्राप्तिपर्यन्तपर्यवसायिता, वेदार्थज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा, अनुबन्धचतुष्टय की सार्थकता, वेद के छहों अंगों की उपादेयता तथा पुराण स्मृत्यादि और न्यायमीमांसा-शास्त्रादि सबकी वेदार्थ प्रतिपादन में उपयुक्तता अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण और प्रामाणिक ढंग से दिखलायी है।

वर्तमान ऋग्वेद भाष्य भूमिका के अनुवाद की वस्तुतः कोई आवश्य-कता नहीं थी और इस भूमिका के लिखने में कोई अनुसन्धान जैसी वस्तु भी नहीं है, यह सत्य होते होते हुए भी इतना अवश्य है कि जो एक-आध भी हिन्दी अनुवाद हुए हैं उन्हें देखने पर और उन अनुवादों से अध्ययन करनेवाले छात्रों की कठिनाइयों को देखने पर इस अनुवाद की आवश्य-कता प्रतीत हुयी। इसे विशुद्ध अनुवाद भी इसलिए नहीं कहा जा सकता कि प्रायः सभी शास्त्रीय ग्रन्थों के साथ यह निर्विवाद सत्य है कि केवल अनुवाद से उन ग्रन्थों का हृदय समझना अत्यन्त दुष्कर है। ऐसे ग्रन्थों के अनुवाद के समय अनुवादक को यह ध्यान रखना पड़ता है कि मूलग्रन्थ में आये हुए पारिभाषिक शब्द और उन्हीं के आधार पर अनू-

दित पारिभाषिक शब्द पढ़ने वालों के लिए अनुवाद करने पर भी दुरूह ही न बने रहें। अतः उन परिभाषिक शब्दों या पारिभाषिक विषयों को टिप्पणी या कोष्ठक में स्पष्ट कर देने से ही अनुवाद परिपूर्ण कहा जा सकता है। इसीलिए इस अनुवाद में आवश्यक टिप्पणियाँ और तात्पर्यार्थ अवश्य दे देने का प्रयतन किया गया है। जैसा कि सर्वविदित है एक भाषा का दूसरी भाषा में अनुवाद करते समय मूलभाषा का सम्पूर्ण स्वारस्य अनुवाद-भाषा में ला देना ठेढ़ी खीर है तथापि इस अनुवाद में ऐसा प्रयत्न किया गया है कि यथा सम्भव पाठकों को इस प्रकार की कठिनाइयों का सामना न करना पड़े।

इस अनुवाद कार्य में यदि मोतीलाल बनारसी दास संस्थान, वाराणसी की सतत प्रेरणा न मिली होती तो यह सम्भव न हो सकता, अतः उक्त संस्थान के संचालक एवं प्रबन्धक धन्यवाद के पात्र हैं। आदरणीय बन्धुवर श्री जनार्दन पाण्डेय एम० ए०, साहित्याचार्य का महत्त्वपूर्ण सहयोग हमलोगों के लिए सम्बल ही रहा, अतः उन्हें प्रणाम कर अनृण होने का प्रयत्न किया जा रहा है।

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी
सं० २०३१

रामअवध पाण्डेय
रविनाथ मिश्र

ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका

ऋग्वेदभाष्यभूमिका

[सायणाचार्यकृता]

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ १ ॥

अ०—सभी कार्यों के प्रारम्भ में ब्रह्मा आदि देवता जिसको नमस्कार करके कृतकृत्य होते हैं उस गणेश को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ २ ॥

अ०—जिसका निःश्वसित ही वेद हैं (और) जिसने वेदोंसे निखिल जगत् का निर्माण किया, उस विद्यातीर्थ (विद्यागुरु महेश्वर ही विद्या के अधिष्ठात्री देवता हैं) महेश्वर को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

यत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद् बुक्कमहीपतिः ।
आदिशन् माधवाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥ ३ ॥

अ०—जिस (विद्यातीर्थ महेश्वर) के कृपा-कटाक्ष (की कृपादृष्टि) से (के कारण) उनके रूप को धारण करते हुए बुक्क राजा ने वेदार्थ के प्रकाशन के विषय में (प्रकाशित करने के लिए) माधवाचार्य को आदेश दिया ॥ ३ ॥

ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायातिसंग्रहात् ।
कृपालुर्माधवाचार्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः ॥ ४ ॥

अ०—जो पूर्वमीमांसा (कर्मकाण्डात्मक व्याख्या) और उत्तरमीमांसायें (ज्ञानकाण्डात्मक व्याख्या) हैं उनकी, सम्यग्ज्ञान से (भलीभाँति समझकर) व्याख्या करके कृपालु माधवाचार्य वेदार्थ को कहने के लिए (प्रकाशित करने के लिए) उद्यत हुए ॥ ४ ॥

आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा ।
यजुर्वेदोऽथ हौत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते ॥ ५ ॥

अ०—यज्ञों में अध्वर्यु नामवाले ऋत्विक् के कर्म की प्रधानता होनेसे पहले यजुर्वेद की व्याख्या की गयी, तदनन्तर होतृ नामक ऋत्विक् के कर्म के लिए ऋग्वेद की व्याख्या की जायगी ॥ ५ ॥

एतस्मिन् प्रथमोऽध्यायः श्रोतव्यः संप्रदायतः ।
व्युत्पन्नस्तावता सर्वं बोद्धुं शक्नोति बुद्धिमान् ॥ ६ ॥

अ०—इस (ऋग्वेद) में प्रथम अध्याय को सम्प्रदाय से ही सुनना चाहिये। उतने से ही व्युत्पन्न (अतएव) बुद्धिमान् (व्यक्ति) सम्पूर्ण (ऋग्वेद) को समझ सकता है ॥ ६ ॥

अत्र केचिदाहुः—ऋग्वेदस्य प्राथम्येन सर्वत्राम्नातत्वात् 'अभ्यर्हितं पूर्वम्' इति न्यायेन अभ्यर्हितत्वात् तद्व्याख्यानमादौ युक्तम्। प्राथम्यं च पुरुषसूक्ते विस्पष्टम्—

'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥'

(ऋ० सं० १०।९०।९) इति।

तस्मात् 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' (ऋ० १०।९०।१) इत्युक्तात् परमेश्वरात् यज्ञात् यजनीयात् पूजनीयात्। सर्वहुतः। सर्वैर्हूयमानात्। यद्यपीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैव इन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोधः। तथा च मन्त्रवर्णः—

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-
रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा वहुधा वदन्त्य-
ग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥'

(ऋ० सं० १।१६४।४६) इति।

वाजसनेयिनश्चामनन्ति—'तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवाः।' (बृ० उ० १।४।६) इति। तस्मात् सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते।

अ०—(मङ्गलाचरण में कहा गया है कि यजुर्वेद की व्याख्या कर दी गयी है और ऋग्वेद की व्याख्या की जायगी) इस प्रसङ्ग में कुछ लोग (पूर्वपक्षी अथवा शङ्का करने वाले या आक्षेप करने वाले) कहते हैं कि सर्वत्र ऋग्वेद का ही प्रमुख रूप से उल्लेख होने के कारण, सम्मानित या पूज्य को पहले (रखना चाहिये) इस न्याय के अनुसार अभ्यर्हित (सम्मानित) होने के कारण (ऋग्वेद का) व्याख्यान सर्वप्रथम होना उचित है। उसकी प्रमुखता पुरुषसूक्तमें स्पष्ट है—'उस पूजनीय तथा सबके द्वारा हूयमान, 'सहस्रशीर्षा पुरुषः ०' आदि मन्त्रों में वर्णित परमेश्वर से ऋचायें तथा साम उत्पन्न हुए, उससे छन्द उत्पन्न हुए उससे यजुष् उत्पन्न हुआ'। यद्यपि (परमेश्वर ही पूजनीय और हूयमान नहीं

क्योंकि) उन-उन यज्ञों में इन्द्र आदि देवताओं का आवाहन किया जाता है तथापि इन्द्र आदि देवता के रूप में परमेश्वर की ही उपस्थिति होती है (अतः उसकी पूजनीयता में) कोई विरोध नहीं है ! इस तथ्य के प्रमाण में मन्त्र भी है—विप्र लोग एक ही सत्ता को अनेक प्रकार से कहते हैं, कभी इन्द्र, कभी मित्र, कभी वरुण, कभी आत्मा, कभी अग्नि, कभी यम, कभी वायु और कभी दिव्य सुपर्ण गरुत्मान् । वाजसनेयी शाखावाले भी कहते हैं—इसका यजन करो, इसका यजन करो, यह जो एक-एक देवता को उद्दिष्ट करके कहते हैं, वह सब इस परमेश्वर की ही विसृष्टि (निर्माण) है क्योंकि परमेश्वर ही सभी देवताओं के रूप में अवस्थित है । इसलिए (सिद्ध हो गया कि) परमेश्वर ही सबके द्वारा हूयमान है ।

न केवलमृचां पाठप्राथम्येनाभ्यर्हितत्वं किंतु यज्ञाङ्गदार्ढ्यहेतुत्वादपि । तथा च तैत्तिरीया आमनन्ति—'यद्वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तद् यद् ऋचा तद् दृढम् ।' (तै० सं० ६।५।१० ३) इति ।

तथा च सर्ववेदगतानि ब्राह्मणानि स्वाभिहितेऽर्थे विश्वासदार्ढ्याय 'तदेतद् ऋचाभ्युक्तम्' इति ऋचमेवोदाहरन्ति । मन्त्रकाण्डेष्वपि यजुर्वेदगतेषु तत्र तत्राध्वर्युणा प्रयोज्या ऋचो बहव आम्नाताः । साम्नां तु सर्वेषामृगाश्रितत्वं प्रसिद्धम् । आथर्वणिकैरपि स्वकीयसंहितायामृच एव बाहुल्येनाधीयन्ते । अतोऽन्यैः सर्वैर्वेदैरादृतत्वादभ्यर्हितत्वं प्रसिद्धम् ।

छन्दोगाश्च प्राथम्ये सनत्कुमारं प्रति नारदवाक्यमेवमामनन्ति — 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्' (छा० उ० ७।१।२) इति । मुण्डकोपनिषद्यपि एवमाम्नायते—'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः' (मु० उ० १।१।५) इति । तापनीयोपनिषद्यपि मन्त्रराजपादेषु क्रमेणाध्ययनमेवसामनन्ति—'ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति' (नृ० ता० उ० १।२) इति ।

एवं सर्वत्र उदाहरणीयम् । तस्मात् ऋग्वेदस्याभ्यर्हितस्यादौ व्याख्यानमुचितमिति ।

अ०—केवल ऋचाओं के पाठ के प्रथमतः विधान होने के कारण ही ऋग्वेद अभ्यर्हित (समादृत) है, ऐसी बात नहीं है अपितु यज्ञके अङ्गों की दृढ़ता का कारण होने से भी (यह अभ्यर्हित है) । तैत्तिरीय शाखाध्यायी इस बात को कहते हैं—'यज्ञ का जो कुछ साम और यजुष् से किया जाता है वह शिथिल होता है किन्तु जो ऋक् से किया जाता है वह दृढ़ होता है' ।

इतना ही नहीं अपितु सभी वेदों के ब्राह्मण अपने कथित अर्थ में विश्वास की दृढ़ताके लिए 'यह तो ऋक् ने भी कहा है' इस प्रकार ऋक् को ही प्रमाण रूप में उद्धृत करते हैं । इसी तरह यजुर्वेदगत मन्त्र काण्डों में स्थान-स्थान पर अध्वर्यु

के द्वारा प्रयोजनीय अनेक ऋचाओं का उल्लेख किया गया है। सभी सामों का ऋक् आश्रित होना तो मानों प्रसिद्ध ही है। आथर्वणिक लोग भी अपनी संहिता में ऋचाओं का ही बहुलता से पाठ करते हैं। अतः सभी दूसरे वेदों के द्वारा आदृत होने के कारण ऋग्वेद का अभ्यर्हितत्व प्रसिद्ध है। छान्दोग्योपनिषद् के पाठक भी ऋग्वेद के प्राथम्य के विषय में सनत्कुमार के प्रति नारद के वाक्य को ही कहते हैं—'हे भगवन् मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथे अथर्ववेद का अध्ययन कर लिया है'। मुण्डकोपनिषद् में भी इसी प्रकार कहा गया है—'ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद'। तापनीयोपनिषद् में भी मन्त्रराज के पादों में क्रम से अध्ययन को ही कहा गया है—'अङ्गों के साथ, और शाखाओं के साथ ऋक्, यजुः, साम और अथर्व ये चारों वेद मन्त्रराज के चार चरण हैं'।

इस प्रकार सभी जगह से उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं और इसलिए ऋग्वेद का ही, अभ्यर्हित होने के कारण, प्रथमतः व्याख्यान उचित था।

तान् प्रति एतदुच्यते—

अस्तु एवं सर्ववेदाध्ययनतत्पारायणब्रह्मयज्ञजपादौ ऋग्वेदस्यैव प्राथम्यम्। अर्थज्ञानस्य तु यज्ञानुष्ठानार्थत्वात् तत्र तु यजुर्वेदस्यैव प्रधानत्वात् तद्व्याख्यानमेवादौ युक्तम्। तत्प्राधान्यं च काचिदृगेव आह—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्
गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां
यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः॥

(ऋ० १०।७१।११) इति।

एतस्या ऋचस्तात्पर्यं निरुक्तकारो यास्कः संक्षिप्य दर्शयति—'इति ऋत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे'। पुनरपि स एव प्रथमं पादं विवृणोति—'ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान् होतर्गर्चनी' (नि० १।८) इति। अस्यायमर्थः—त्वशब्द एकशब्दपर्यायो होतृविशेषणम्। होतृनामक एक ऋत्विक् यज्ञकाले स्वकीयवेदगतानामृचां पुष्टिं कुर्वन्नास्ते। भिन्नप्रदेशेष्वाम्नातानामृचां संघमेकत्र सम्पाद्य तावदिदं शस्त्रमिति क्लृप्तिं करोति सेयं पुष्टिः। अर्चनीत्यमुमर्थमृक्शब्द आचष्टे। अर्च्यते प्रशस्यतेऽनया देवविशेषः क्रियाविशेषस्तत्साधनविशेषो वा इति ऋक्शब्दव्युत्पत्तिरिति।

अ०—पूर्वपक्षी के प्रति उत्तरपक्षी (समाधान करने वाला, आक्षेप का निराकरण करने वाला) कहता है—'ठीक है, इस प्रकार सब वेदों का अध्ययन, उनका पारायण, ब्रह्मयज्ञ, जप आदि में ऋग्वेद की ही प्रधानता है, तो हो, किन्तु यज्ञा-

नुष्ठान के लिए अर्थज्ञान आवश्यक है और इस प्रकार अर्थज्ञान के प्रसंग में यजुर्वेद की ही प्रधानता होने से सर्वप्रथम उसका ही व्याख्यान उचित था'। इसी दृष्टि से यजुर्वेद की प्रधानता को किसी ऋक् ने ही कहा है—'ऋत्विजों में होता ऋचाओं की पुष्टि करता है, उद्गाता शक्वरी नामक ऋचाओं पर 'गायत्र' सामों का गान करता है, ब्रह्मा समय-समय पर अनुज्ञा करता है, अध्वर्यु ऋत्विक् यज्ञ के पूर्ण स्वरूप का प्रतिपादन करता है'।

इसी ऋक् का तात्पर्य निरुक्तकार यास्क संक्षेप में बतलाते हैं—'यह ऋक् ऋत्विकों के विनियोग को कहती है' और फिर यास्क ही इसके पहले पाद का विवरण देते हैं—'होता नामक एक ऋत्विक् ऋचाओं की पुष्टि करता है, ऋक् को अर्चनी कहते हैं'। इसका यह अर्थ है—'त्वं' शब्द 'एक' शब्द का पर्याय है। वह 'होतृ' का विशेषण है। होता नामक एक ऋत्विक् यज्ञकाल में अपने वेदों में आयी हुई ऋचाओं की पुष्टि करता रहता है। तात्पर्य यह कि भिन्न-भिन्न प्रदेशों में कही गयी ऋचाओं का एक स्थान पर समूह बनाकर 'यह इतना शास्त्र है', इस प्रकार का निश्चय करता है। यही वह पुष्टि है। 'अर्चनी' इस अर्थ को ऋक् शब्द कहता है। ऋक् शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—जिसके द्वारा देवता विशेष, क्रिया विशेष या उनके साधनविशेष की अर्चना या प्रशंसा की जाती है, वह ऋक् है।

अथ द्वितीयं पादं विवृणोति—'गायत्रमेको गायति शक्वरीषूद्गाता। गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः। शक्वर्य ऋचः शक्नोतेस्तद् यदाभिर्वृत्रमशकद् हन्तुं तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वमिति विज्ञायते' इति। अस्यायमर्थः—उद्गातृनामकः एकः ऋत्विक् गायत्रशब्दाभिधेयं स्तोत्रं शक्वरीशब्दाभिधेयास्वृक्षु गायति। धातूनामनेकार्थत्वेन स्तुतिक्रियावाचिनो गायतिधातोरुत्पन्नोऽयं गायत्रशब्दः। शक्वरीशब्दस्तु शक्नोतिधातोरुत्पन्नः। वृत्रं हन्तुं शक्नोति आभिर्ऋग्भिरित्येषा व्युत्पत्तिः कस्मिंश्चित् ब्राह्मणे विज्ञायते इति।

अथ तृतीयं पादं विवृणोति—'ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति। ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति' इति। अस्यायमर्थः—ब्रह्मनामकः एकः ऋत्विक् जाते जाते तदा तदा उत्पन्ने यज्ञे प्रस्तुते प्रणयनादिकर्मणि विद्याम् अनुज्ञां वदति, 'ब्रह्मन् अपः प्रणेष्यामि' इत्येवं संबोधितः सन् 'ओम् प्रणय' इत्यनुजानाति। स च ब्रह्मा वेदत्रयोक्तसर्वकर्माभिज्ञः। तस्मात् योग्यतां दृष्ट्वा तत्तदनुज्ञातुं सति प्रमादे समाधातुं च समर्थः इति। तच्च सामर्थ्यं छन्दोगा आमनन्ति—'एष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्तनी, तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा, वाचा होताध्वर्युरुद्गातान्यतराम्' (छा० उ० ४।१६।१-२)

इति। कृत्स्नो यज्ञः प्रमादराहित्याय मनसा सम्यगनुसंधेयो, वाचा च वेदत्रयोक्तमन्त्राः पठनीयाः। तत्र होत्रादयस्त्रयो मिलित्वा वाग्रूपं यज्ञमार्गं संस्कुर्वन्ति ब्रह्मा तु एक एव मनोरूपं यज्ञमार्गं कृत्स्नमपि संस्करोति। तस्मादस्यास्ति सामर्थ्यमिति।

अ०—उपर्युक्त ऋचा के द्वितीय पाद का यास्क विवरण देते हैं—'एक उद्गाता ऋत्विक् शक्वरी नामक ऋचाओं पर 'गायत्र' साममन्त्रों का गान करता है।' 'गायत्र' शब्द स्तुतिकर्मार्थक 'गै' धातु से निष्पन्न हुआ है। शक्वरी ऋचायें हैं, शक्वरी शब्द 'शक्' धातु से निष्पन्न हुआ है। इन ऋचाओं से (इन्द्र] वृत्र को जो मार सके वही शक्वरियों का शक्वरीत्व है, ऐसा जाना जाता है। इसका यह अर्थ है। उद्गातृ नामक एक ऋत्विक् 'गायत्र' शब्द से कहे जाने वाले स्तोत्र को शक्वरी शब्द से कही जाने वाली ऋचाओं में गाता है। धातुओंके अनेकार्थक होने के कारण स्तुति क्रियावाची 'गै' धातु से यह 'गायत्र' शब्द निष्पन्न है। 'शक्वरी' शब्द तो 'शक्' धातु से निष्पन्न है। किसी ब्राह्मण में 'शक्वरी' की व्युत्पत्ति 'वृत्रं हन्तुं शक्नोत्याभिर्ऋग्भिः', ऐसी की गयी है।

अब तृतीय पाद का विवरण (यास्क) देते हैं—'एक ब्रह्मा ऋत्विक् अवसर-अवसर पर अनुज्ञा करता है। ब्रह्मा सभी विद्याओं को जानने वाला है। (अतः) सब कुछ जानने में समर्थ है'। इसका यह अर्थ है—ब्रह्मा नाम का एक ऋत्विक् अवसर-अवसर पर यज्ञ के प्रस्तुत होने पर प्रणयनादि कर्म में अनुज्ञा करता है, 'ब्रह्मन्नपः प्रणेष्यामि', इस प्रकार से सम्बोधित होता हुआ (ब्रह्मा) ॐ प्रणय', ऐसी अनुज्ञा करता है। और वह ब्रह्मा तीनों वेदों में कहे गये सभी कर्मों का ज्ञाता है। अतः योग्यता देखकर उन-उन अनुज्ञाओं को करने में (और) प्रमाद होनेपर समाधान करने में समर्थ है और इस सामर्थ्य को छन्दोग इस प्रकार पढ़ते हैं—'यही यज्ञ है, इस यज्ञ के मन और वाणी मार्ग हैं, उनमें से एक का संस्कार ब्रह्मा मन से करता है और दूसरी-का संस्कार होता, अध्वर्यु और उद्गाता वाणी से करते हैं'। प्रमाद से राहित्य के लिए (कहीं भूल न हो, इसके लिए) सम्पूर्ण यज्ञ का मन से भलीभाँति अनुसंधान करना चाहिये और वाणी से वेदत्रयोक्त मन्त्रों को पढ़ना चाहिये। उस प्रसंग में होता आदि तीनों ऋत्विक् मिलकर वाणी रूपी यज्ञ मार्ग का संस्कार करते हैं। ब्रह्मा तो अकेले मनोरूप सम्पूर्ण यज्ञमार्ग का संस्कार करता है। अतएव ब्रह्मा का (यह) सामर्थ्य है।

अथ चतुर्थ पादं विवृणोति—'यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकोऽध्वर्युः। 'अध्वर्युरध्वरयुरध्वरं युनक्ति अध्वरस्य नेता' इति। अस्यायमर्थः—अध्वर्युनामकः एकः ऋत्विक् यज्ञस्य मात्रां स्वरूपं विमिमीते विशेषेण निष्पादयति। मीयते निर्मीयते इति मात्रा स्वरूपम्। तन्निष्पादकत्वं च अध्वर्यो-

र्नामनिर्वचनादवगम्यते । 'अध्वर्यु:' इत्यत्र छान्दस्या प्रक्रियया लुप्तमकारं पुनः प्रक्षिप्य 'अध्वरयुः' इति नाम संपादनीयम् । अध्वरं युनक्ति इति अवयवार्थः । अध्वरस्य नेता इति तात्पर्यार्थ इति । एतदेवाभिप्रेत्य अध्वर्यु-वेदस्य यागनिष्पादकत्वद्योतकं निर्वचनं यास्को दर्शयति 'मन्त्रा मननात्, छन्दांसि छादनात्, स्तोमः स्तवनात्, यजुर्यजतेः' (नि० ७।१२) इति ।

एवं सति अध्वर्युसम्बन्धिनि यजुर्वेदे निष्पन्नं यज्ञशरीरमुपजीव्य तद-पेक्षितौ स्तोत्रशस्त्ररूपौ अवयवौ इतरेण वेदद्वयेन पूर्येते इत्युपजीव्यस्य यजु-र्वेदस्य प्रथमतो व्याख्यानं युक्तम् । तत ऊर्ध्वं साम्नामृगाश्रितत्वात् उभयो-र्मध्ये प्रथमत ऋग्व्याख्यानं युक्तम् इति ऋग्वेद इदानीं व्याख्यायते ।

अब [यास्क] चतुर्थ पाद का विवरण देते हैं—'एक अध्वर्यु ऋत्विक् यज्ञ के स्वरूप का निष्पादन करता है । अध्वर्यु शब्द की व्युत्पत्ति 'अध्वरं युनक्ति अर्थात् यज्ञ को जोड़ता है अथवा 'अध्वरस्य नेता', यज्ञ का नेता है, इस प्रकार बताकर 'अध्वर्यु' या 'अध्वरयु' ये दो प्रकार के शब्द होते हैं, यह भी बताया गया है । इसका यह अर्थ है--अध्वर्यु नामका एक ऋत्विक् यज्ञ के स्वरूप का विशेष प्रकार से निष्पादन करता है । 'मीयते' अर्थात् 'निर्मीयते', इस व्युत्पत्ति में 'सिद्ध मात्रा' शब्द का अर्थ 'स्वरूप' है । उसका निष्पादकत्व अध्वर्यु शब्द के निर्वचन से ही जाना जाता है । 'अध्वर्यु' इस प्रयोग में वैदिक प्रक्रिया के अनुसार लुप्त अकार का पुनः प्रक्षेप करके 'अध्वरयुः' इस नाम का सम्पादन करना चाहिए । 'अध्वरं युनक्ति' यह अर्थ इस शब्द के अवयव ['अध्वर' और 'यु'] से प्राप्त है अर्थात् योगज हैं और अध्वरस्य नेता यह अर्थ तात्पर्यार्थ है योगज नहीं । इसी अभिप्राय से यास्क ने अध्वर्युवेद [यजुर्वेद] की यागनिष्पादकता का द्योतक निर्वचन बताया है--मन्त्र मनन करने से कहलाते हैं, छन्द छादन करने से कहलाते हैं [देवता लोगों ने मृत्यु से डरकर छन्दों से अपने को ढक लिया था] स्तवन करने से स्तोम कहलाते हैं, यजन करने से यजुः कहलाते हैं' । इस प्रकार की स्थिति में अध्वर्यु से सम्बन्ध रखने वाले यजुर्वेद में निष्पन्न यज्ञ शरीर को उपकारक मानकर उसमें अपेक्षित स्तोत्र और शस्त्ररूप अवयवों की पूर्ति दूसरे वेदद्वय से की जाती है । अतः उपकारक यजुर्वेद का सर्वप्रथम व्याख्यान उचित ही था । तदनन्तर सामों के ऋग्- [आश्रित] होने के कारण इन दोनों [ऋक् और साम] में प्रथमतः ऋग्वेद का व्याख्यान ही उचित है, अतः अब ऋग्वेद की व्याख्या की जायगी, ऐसा कहा गया है ।

ननु वेद एव तावन्नास्ति, कुतस्तदवान्तरविशेष ऋग्वेदः ? तथाहि कोऽयं वेदो नाम ? न हि तत्र लक्षणं प्रमाणं वास्ति । न च तदुभयव्यति-

रेकेण किञ्चिद् वस्तु प्रसिध्यति। 'लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः' इति न्यायविदां मतम्।

प्रत्यक्षानुमानागमेषु प्रमाणविशेषेषु अन्तिमो वेद इति तल्लक्षणमिति चेत्। न, मन्वादिस्मृतिषु अतिव्याप्तेः। 'समयबलेन सम्यक्परोक्षानुभव-साधनम्' इत्येतस्यागमलक्षणस्य तास्वपि सद्भावात्।

'अपौरुषेयत्वे सति' इति विशेषणाददोषः इति चेत्। न, वेदस्यापि परमेश्वरनिर्मितत्वेन पौरुषेयत्वात्।

शरीरधारिपुरुषनिर्मितत्वाभावात् अपौरुषेयत्वम् इति चेत्। न, सहस्रशीर्षा पुरुषः' (ऋ० १०।९०।१) इत्यादिश्रुतिभिरीश्वरस्यापि शरीरित्वात्।

कर्मफलरूपशरीरधारिजीवनिर्मितत्वाभावमात्रेण अपौरुषेयत्वं विवक्षितमिति चेत्। न, जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात् ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात् (ऐत० ब्रा० ५।३२) इति श्रुतेः ईश्वरस्य अग्न्यादिप्रेरकत्वेन निर्मातृत्वं द्रष्टव्यम्।

मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेद इति चेत्। न, ईदृशो मन्त्रः ईदृशं ब्राह्मणमित्यनयोरद्याप्यनिर्णीतत्वात्। तस्मान्नास्ति किञ्चिद् वेदस्य लक्षणम्।

अर्थ—पूर्वपक्षी कहता है—वेद ही नहीं तो भला उसका अवान्तर भेद ऋग्वेद कहाँ से ? 'तथाहि', यह कहकर पूर्वपक्षी अपने पूर्वपक्ष का स्वरूप इस प्रकार बताता है—यह वेद क्या है ? न तो वेद का कोई लक्षण मिलता है और न तो उसकी सत्ता में कोई प्रमाण ही। लक्षण और प्रमाण के विना किसी वस्तुकी सिद्धि नहीं की जा सकती क्योंकि नैयायिकों का यह प्रमाणभूत मत है कि लक्षण और प्रमाण से वस्तु की सिद्धि होती है, [अन्यथा नहीं]। यतः मनुस्मृति आदि भी वेद कहलाने लगेंगी और इस प्रकार लक्षण अतिव्याप्ति [लक्ष्य से अतिरिक्त अलक्ष्य में भी लक्षण का जाना] दोषग्रस्त हो जायगा। अतः प्रत्यक्ष अनुमान और आगम इन प्रमाणविशेषों में अन्तिम प्रमाण वेद है, ऐसा लक्षण नहीं कर सकते। 'संकेत के बल से परोक्ष के अनुभव का सम्यक् साधन', आगम का लक्षण है। इस प्रकार मनुस्मृति आदि के भी आगम के लक्षण के लक्ष्य होने से अतिव्याप्ति दोष है ही।

यतः वेद भी परमेश्वर-निर्मित होने से पौरुषेय हैं और इस प्रकार वेद भी वेद नहीं कहला सकते। अतः अपौरुषेय आगम वेद हैं, [अपौरुषेय भी है आगम भी है] इस प्रकार विशेषण जोड़ कर भी अतिव्याप्ति दोष का निराकरण करना चाहे तो वह नहीं किया जा सकता। यह अव्याप्ति- [लक्ष्य में लक्षण का जाना]

दोष हैं यतः 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ईश्वर भी शरीरधारी पुरुष के रूप में वर्णित हैं। अतएव शरीरधारी पुरुष द्वारा निर्मित न होने से वेद अपौरुषेय हैं यह नहीं कहा जा सकता। अग्नि, वायु, आदित्य इन जीवविशेषों के द्वारा वेदों की उत्पत्ति हुई है अतएव कर्मफल के अनुसार शरीर धारण करने वाले जीव के द्वारा निर्मित न होने मात्र से इसे अपौरुषेयत्व है, यह भी नहीं कहा जा सकता। 'अग्नि से ही ऋग्वेद उत्पन्न हुआ, वायु से यजुर्वेद, और आदित्य से सामवेद', इस ऐतरेय ब्राह्मण के प्रमाण से ईश्वर अग्नि आदि का प्रेरक होने से निर्माता-मात्र है (वेद की उत्पत्ति तो उन-उन देवताओं से हुई है, अतः पौरुषेय हैं, अपौरुषेय नहीं) मन्त्र इसी प्रकार का है, ब्राह्मण इसी प्रकार का है, ऐसा इन दोनों का आज भी निर्णय न होने के कारण 'मन्त्र ब्राह्मणात्मक शब्दराशि वेद हैं,' ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। अतः वेद का कोई भी लक्षण नहीं है।

नापि तत्सद्भावे प्रमाणं पश्यामः। 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्' (छां० उ० ७।१।२) इत्यादिवाक्यं प्रमाणमिति चेत्। न, तस्यापि वाक्यस्य वेदान्तःपातित्वेन आत्माश्रयत्वप्रसङ्गात्। न खलु निपुणोऽपि स्वस्कन्धमारोढु प्रभवति।

'वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः' (या० स्मृ० १।४०) इत्यादिस्मृतिवाक्यं प्रमाणमिति चेत्। न, तस्यापि उक्तश्रुतिमूलत्वेन निराकृतत्वात्।

प्रत्यक्षादिकं तु शङ्कितुमप्ययोग्यम्। वेदविषया तु लोकप्रसिद्धिः सार्वजनीनापि 'नीलं नभः' इत्यादिवत् भ्रान्ता। तस्मात् लक्षणप्रमाणरहितस्य वेदस्य सद्भावो नाङ्गीकर्त्तु शक्यते इति पूर्वः पक्षः।

अर्थ—और वेद की सत्ता में प्रमाण भी नहीं देखते हैं। 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्' इत्यादि वाक्य वेद के ही अन्दर होने के कारण आत्माश्रय (जिसका लक्षण कर रहे हों उसी को प्रमाण मानकर यदि लक्षण किया जाय तो आत्माश्रय दोष होता है) दोषग्रस्त लक्षण के प्रसङ्ग होने के कारण 'ऋग्वेदं' आदि उपर्युक्त वाक्य भी प्रमाण नहीं हो सकते। चतुर से चतुर व्यक्ति भी अपने ही कन्धे पर आरूढ़ होने में समर्थ नहीं हो सकता। 'वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः' इत्यादि स्मृतिवाक्यों के भी उक्तश्रुतिमूलक होने से (अतएव प्रमाण होने से) निराकृत (खण्डित) हो जाने के कारण 'वेद एव' इत्यादि स्मृतिवाक्य प्रमाण नहीं हो सकते। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की शङ्का करना भी अनुचित है! जिस प्रकार आकाश नीला है, यह भ्रान्त धारणा सर्वजनप्रसिद्ध होने पर भी प्रमाणभूत नहीं हो सकती उसी प्रकार 'वेद हैं' यह भ्रान्त

धारणा सर्वजन प्रसिद्ध होने पर भी प्रमाणभूत नहीं हो सकती । अतः लक्षण और प्रमाण से रहित वेद की सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती—यह पूर्वपक्ष है ।

अत्रोच्यते । मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वं तावददुष्टं लक्षणम् । अत एव आपस्तम्बो यज्ञपरिभाषायामेवमाह—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (आप० परि० १।३३) इति । तयोस्तु स्वरूपमुपरिष्टान्निर्णेष्यते । अपौरुषेयवाक्यत्वमितीदमपि यादृशमस्माभिर्विवक्षितं तादृशमुत्तरत्र स्पष्टीभविष्यति । प्रमाणान्यपि यथोक्तश्रुतिस्मृतिलोकप्रसिद्धिरूपाणि वेदसद्भावे द्रष्टव्यानि । यथा घटपटादिद्रव्याणां स्वप्रकाशकत्वाभावेऽपि सूर्यचन्द्रादीनां स्वप्रकाशकत्वमविरुद्धम्, तथा मनुष्यादीनां स्वस्कन्धारोहासंभवेऽपि अकुण्ठितशक्तेर्वेदस्य इतरवस्तुप्रतिपादकत्ववत् स्वप्रतिपादकत्वमप्यस्तु । अत एव संप्रदायविदोऽकुण्ठितां शक्तिं वेदस्य दर्शयन्ति—'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थं शक्नोति अवगमयितुम्' (शा० भा० १।१।२) इति । तथा सति वेदमूलाया लोकप्रसिद्धेश्च प्रामाण्यं दुर्वारम् । तस्मात् लक्षणप्रमाणसिद्धो वेदो न केनापि चार्वाकादिना अपोढुं शक्यते इति स्थितम् ।

अ०—इस प्रसङ्ग में [उत्तरपक्ष] कहा जाता है—मन्त्र-ब्रह्मणात्मक शब्द-राशि वेद है, यह लक्षण निर्दुष्ट है । इसीलिए आपस्तम्ब की यज्ञ परिभाषा में इस प्रकार कहा गया है—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति' । मन्त्र और ब्राह्मण के स्वरूप का निर्णय बाद में किया जायगा । 'अपौरुषेय वाक्य वेद हैं' यह जैसा कि हम लोगों को विवक्षित हैं, वैसा बाद में स्पष्ट होगा । वेदों की सत्ता में श्रुति-स्मृति में कहे गये प्रमाण तथा लोकप्रसिद्धिरूप प्रमाण देखे जा सकते हैं । जिस प्रकार घट, पट, आदि द्रव्य अपने ही प्रकाशक नहीं हैं किन्तु सूर्य, चन्द्रमा आदि द्रव्य अपने ही प्रकाशक हैं, कोई विरोध नहीं है; उसी प्रकार मनुष्य आदि का अपने ही कन्धे पर आरोहण असम्भव होने पर भी अकुण्ठित शक्ति वेद की दूसरी वस्तु की प्रतिपादकता की भाँति ही अपनी प्रतिपादकता भी है [हो सकती है, कोई विरोध नहीं] । इसीलिए सम्प्रदाय के जानकार लोग वेद की अकुण्ठित शक्ति का वर्णन करते हैं—'चोदना हि भूतं०' (वेद) भूत, वर्तमान, भविष्यत्, सूक्ष्म, व्यवहित एवं अति दूर; इस प्रकार के सभी अर्थों का ज्ञान करा सकता है । इस प्रकार की स्थिति में वेदमूलक स्मृति और वेद और स्मृतिमूलक लोक-प्रसिद्धि की प्रामाणिकता में सन्देह नहीं किया जा सकता । अतः लक्षण प्रमाण से सिद्ध वेद किसी भी चार्वाक आदि के द्वारा लुप्त नहीं किया जा सकता, यह बात सिद्ध हो गयी।

ननु अस्तु नाम वेदाख्यः कश्चित् पदार्थः, तथापि नासौ व्याख्यानमर्हति, अप्रमाणत्वेन अनुपयुक्तत्वात्। न हि वेदः प्रमाणम्, तल्लक्षणस्य तत्र-दुःसम्पादत्वात्। तथाहि 'सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्' इति केचिल्लक्षणमाहुः। अपरे तु 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' इत्याचक्षते। न चैतदुभयं वेदे संभवति। मन्त्रब्राह्मणात्मको हि वेदः। तत्र मन्त्राः केचिदबोधकाः। 'अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिः' (ऋ० १।१६९।३) इत्येको मन्त्रः। 'यादृस्मिन् धायि तमपस्यया विदत्' (ऋ० ५।४४।८) इत्यन्यः। 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' (ऋ० १०।१०६।६) इत्यपरः। एवम् 'आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा' (ऋ० १०।८९।५) इत्यादय उदाहार्याः। न हि एतैर्मन्त्रैः कश्चिदप्यर्थोऽवबुध्यते। एतेष्वनुभव एव यदा नास्ति तदा तत्सम्यक्त्वं तदीयसाधनत्वं च दूरापेतम्।

'अधःस्विदासी३दुपरिस्विदासी३त्' (१०।१२९।५) इति मन्त्रस्य बोधकत्वेऽपि 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादिवाक्यवत् सन्दिग्धार्थबोधकत्वात् नास्ति प्रामाण्यम्।

'ओषधे त्रायस्वैनम्' (तै० सं० १।२।१।१) इति मन्त्रो दर्भविषयः। 'स्वधिते मैनं हिंसीः' (तै० सं० १।२।१।१) इति क्षुरविषयः। 'शृणोत ग्रावाणः'। (तै० सं० १।३।१३।१) इति पाषाणविषयः। एतेष्वचेतनानां दर्भक्षुरपाषाणानां चेतनवत् सम्बोधनं श्रूयते। ततो 'द्वौ चन्द्रमसौ' इति वाक्यवत् विपरीतार्थबोधकत्वादप्रामाण्यम्।

'एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे' (तै० सं० १।८।६।१) 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधिभूम्याम्' (तै० सं० ४।५।११।१) इत्यनयोस्तु मन्त्रयोः 'यावज्जीवमहं मौनी' इति वाक्यवत् व्याघातबोधकत्वादप्रामाण्यम्।

'आप उन्दन्तु' (तै० सं० १।२।१।१) इति मन्त्रो यजमानस्य क्षौरकाले जलेन शिरसः क्लेदनं ब्रूते। 'शुभिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम' (आपस्तम्ब मन्त्रपाठ २।८।९) इति मन्त्रो विवाहकाले मङ्गलाचरणार्थं पुष्पनिर्मितायाः शुभिकाया वरवध्वोः शिरसि अवस्थानं ब्रूते। तयोश्च मन्त्रयोर्लोकप्रसिद्धार्थानुवादित्वाद् अनधिगतार्थगन्तृत्वं नास्ति। तस्मान्मन्त्रभागो न प्रमाणम्।

अ०—पूर्वपक्षी कहते हैं—अस्तु, वेद नाम का कोई पदार्थ है, ऐसा मान लिया, किन्तु वह व्याख्यान के योग्य नहीं है क्योंकि अप्रमाण होने से अनुपयुक्त है। वेद के लक्षण के वेद में संगत न होने के कारण वेद प्रमाण नहीं है। इसको स्पष्ट करते हैं—कुछ लोगों ने सम्यक् अनुभव के साधन को प्रमाण माना है और कुछ ने 'जो अज्ञात अर्थ को बताता है' उसे प्रमाण माना है। ये दोनों लक्षण वेद में संगत नहीं होते क्योंकि 'मन्त्र-ब्राह्मणात्मक शब्दराशि को वेद' माना गया है

और उसमें (वेद में) कुछ मन्त्र अबोधक हैं (अनर्थक हैं), जैसे—'अम्यक्सात इन्द्र ऋष्टिः' 'यादृस्मिन्धायि तपस्यया विदद्', 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' और इसी प्रकार 'आपान्त मन्युस्तृपलप्रभर्मा' इत्यादि मन्त्र उदाहरणरूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इन मन्त्रों से कोई भी अर्थ नहीं समझा जा सकता। जब इनमें अनुभव ही नहीं है तब उसके सम्यक्त्व का प्रश्न ही नहीं और उसके साधनत्व की तो बात ही दूर रही।

'अधः स्विदासी३दुपरिस्विदासी३त्' इस मन्त्र के अर्थबोधक होने पर भी 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादि वाक्यों की तरह संदिग्धार्थबोधक होने के कारण इसे प्रामाण्य नहीं है। 'ओषधे त्रायस्वैनम्' यह मन्त्र दर्भविषयक, 'स्वधिते मैनं-हिंसीः' यह मन्त्र क्षुरविषयक, 'शृणोत ग्रावाणः' यह मन्त्र पाषाण विषयक है। इन अचेतन दर्भ, क्षुर, पाषाणों का चेतन की तरह सम्बोधन सुना जाता है। जो उचित प्रतीत नहीं होता (अतः) 'दो चन्द्रमा' इस वाक्य की तरह विपरीतार्थ [प्रसिद्ध अर्थ से भिन्न] बोधक होने के कारण अप्रामाणिक है। 'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे', 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधि भूम्याम्' ये दोनों मन्त्र 'यावज्जीवन मैं मौनी हूँ [जो यावज्जीवन मौनी है वह भला इस वाक्य को कैसे कहेगा] इस वाक्य की तरह व्याघात [वदतो व्याघात] बोधक होने से अप्रामाणिक हैं। 'आप उन्दन्तु' यह मन्त्र यजमान के क्षौरकाल में जल से सिर को भिगोने को कहता है और 'शुभिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम' यह मन्त्र विवाहकाल में मङ्गलाचरण के लिए पुष्पनिर्मित शुभिका (मौर या सेहरा) वर-वधू के शिर पर रखना, कहता है। इन दोनों मन्त्रों के लोकप्रसिद्ध अर्थ के ही अनुवादक होने के कारण इनमें अज्ञात अर्थ की बोधकता नहीं है, अतः मन्त्र भाग प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

अत्रोच्यते—अम्यगादिमन्त्राणामर्थो यास्केन निरुक्तग्रन्थेऽवबोधितः। तत्परिचयरहितानामनवबोधो न मन्त्राणां दोषमावहति। अत एवात्र लौकिकं न्यायमुदाहरन्ति—'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति' (नि० १।१६) इति।

'अधःस्विदासी३त्' इति मन्त्रश्च न सन्देहप्रबोधनाय प्रवृत्तः। किं तर्हि? जगत्कारणस्य परवस्तुनोऽतिगम्भीरत्वं निश्चेतुमेव प्रवृत्तः। तदर्थमेव हि गुरुशास्त्रसंप्रदायरहितैर्दुर्बोधत्वम् 'अधः स्वित्' इत्यनया वचोभङ्ग्योपन्यस्यति। स एवाभिप्राय उपरितनेषु 'को अद्धा वेद' (१०।१२९।६) इत्यादिमन्त्रेषु स्पष्टीकृतः।

ओषध्यादिमन्त्रेष्वपि चेतना एव तत्तदभिमानिदेवताः तेन तेन नाम्ना

संबोध्यन्ते। ताश्च देवता भगवता बादरायणेन 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' (ब्र० सू० २।१।५) इति सूत्रे सूत्रिताः।

एकस्यापि रुद्रस्य स्वमहिम्ना सहस्रमूर्तिस्वीकारान्नास्ति परस्पर-व्याघातः।

जलादिद्रव्येण शिरःक्लेदनादेर्लोकप्रसिद्धत्वेऽपि तदभिमानिदेवतानु-ग्रहस्याप्रसिद्धत्वात् तद्विषयत्वेनाज्ञातार्थज्ञापकत्वम्।

ततो लक्षणसद्भावादस्ति मन्त्रभागस्य प्रामाण्यम्।

अ०—ऐसी स्थिति में उत्तरपक्षी कहते हैं – अम्यगादि मन्त्रों का अर्थ यास्क ने निरुक्त ग्रन्थ में भली-भांति समझाया है, उस निरुक्त ग्रन्थ के परिचयविहीन लोगों का अज्ञान मन्त्रों के दोष को नहीं ला सकता (इसमें अज्ञान कारण है, मन्त्रों का कोई दोष नहीं) इसीलिए इस प्रसंग में लौकिक न्याय का उदाहरण दिया गया है—'स्थाणु को जो अन्धा नहीं देखता है, वह स्थाणु का अपराध नहीं है अपितु वह पुरुष का ही अपराध है। और 'अधः स्विदासीत्' यह मन्त्र संदेह जगाने के लिए नहीं प्रवृत्त हुआ है, अपितु जगत् के कारण परवस्तु (ब्रह्म) की अति गंभी-रता का निश्चय करने के लिए प्रवृत्त हुआ। इसीलिए ही तो गुरु, शास्त्र और सम्प्रदाय से विहीन लोगों के द्वारा यह परमतत्त्व दुर्बोध है यह बताने के लिए 'अधः स्वित्' वचोभङ्गी (वाक्शैली) से उपस्थित किया गया है। यही अभि-प्राय, 'को अद्धा वेद' इत्यादि ऊपर के मन्त्रों में, स्पष्ट किया गया है। 'ओष-ध्यादि' मन्त्रों में भी उन-उन के चेतन अभिमानी देवता ही उन-उन अचेतन नामों से सम्बोधित होते हैं और वे देवताएँ 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' इस सूत्र में भगवान् बादरायण के द्वारा सूचित हैं। एक भी रुद्र का अपनी महिमा से सहस्रमूर्ति होना स्वीकृत होने के कारण परस्पर कोई व्याघात ही नहीं है। जल आदि द्रव्य से शिर का भिगोना आदि लोक प्रसिद्ध होने पर भी उन-उन की अभिमानी देवता के अनुग्रह के अप्रसिद्ध होने के कारण उतने अंश में अज्ञातार्थ का ज्ञापक वेद है ही। अतः लक्षण की सत्ता होने कारण मन्त्रभाग का प्रामाण्य है ही।

एतदेवाभिप्रेत्य भगवान् जैमिनिः मन्त्राधिकरणे मन्त्राणां विवक्षितार्थ-त्वमसूचयत् (जै० सू० १।२।३१–४५)। तानि च सूत्राणि क्रमेणोदाहृत्य व्याख्यास्यामः। तत्र पूर्वपक्षं सूत्रयति।

'तदर्थशास्त्रात्' (जै० १।२।३१) इति।

यस्यार्थस्याभिधाने समर्थो मन्त्रः स एवाभिधेयो यस्य शास्त्रस्य ब्राह्मण-वाक्यस्य तदिदं वाक्यं तदर्थशास्त्रम्। तस्मात् शास्त्रात् अविवक्षितार्थो मन्त्रः इत्यवगम्यते। तथा हि—'उरू प्रथस्व' (तै० सं० १।१।८) इति मन्त्रेण पुरोडाशप्रथनमभिधीयते 'पुरोडाशं प्रथयति' (तै० ब्रा० ३।२।८।४)

इति ब्राह्मणेनापि तदेवाभिधीयते। तथा सति मन्त्रेणैव प्रतीतत्वात् तदर्थबोधनाय प्रवृत्तं ब्राह्मणमनर्थकं स्यात्। मन्त्रस्याविवक्षितार्थत्वे तु विनियोगबोधनाय ब्राह्मणमुपयुक्तम्। तस्मात् मन्त्राः उच्चारणेनैव अनुष्ठाने उपकुर्वन्ति।

ननु उच्चारणार्थत्वे सति अदृष्टं प्रयोजनं परिकल्प्येत। अर्थाभिधायकत्वे तु दृष्टं लभ्यते। तस्मात् ब्राह्मणस्यानुवादकत्वमभ्युपेत्यापि मन्त्रस्याभिधानार्थत्वमेव इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'वाक्यनियमात्' (जै० १।२।३२) इति।

"अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्" (ऋ० ८।४४।१६) इत्येवमेव वाक्यं पठितव्यमिति मन्त्रे नियम उपलभ्यते। अर्थप्रत्यायनं तु मूर्द्धाग्निरित्येवं व्युत्क्रमपाठेऽपि भवत्येव। तस्मात् नियतपाठक्रमसाफल्यायोच्चारणमेव मन्त्रप्रयोजनम्।

अ०—इसी अभिप्राय से भगवान् जैमिनि ने मन्त्राधिकरण में 'मन्त्रों का अर्थ विवक्षित हैं', इस तथ्य को सूत्रों में बाँधा है। उन्हीं सूत्रों को क्रम से पढ़कर व्याख्या करेंगे। उनमें से पूर्वपक्ष को सूचित करते हैं—'तदर्थशास्त्रात्' अर्थात् उस अर्थ के प्रतिपादक शास्त्र (ब्राह्मण वाक्य) से (मन्त्र की अनर्थकता सिद्ध होती है)। जिस अर्थ के अभिधान में मन्त्र समर्थ नहीं है वही है अभिधेय जिस शास्त्र का अर्थात् ब्राह्मण वाक्य का, वही वाक्य 'तदर्थशास्त्र' है। उसी शास्त्र से 'मन्त्र अविवक्षित हैं' यह जाना जाता है, जैसे—'उरू प्रथस्व' इस मन्त्र से पुरोडाश का प्रथन (विस्तार) कहा गया है। और 'पुरोडाशं प्रथयति' इस ब्राह्मण से भी वही कहा जाता है। इस प्रकार मन्त्र से ही अर्थ के प्रतीत हो चुकने के कारण उसी अर्थ के बोध के लिए प्रवृत्त ब्राह्मण अनर्थक है। मन्त्र के अर्थ की अविवक्षा होने पर तो विनियोग के बोध के लिए ब्राह्मण उपयुक्त हो सकता है। अतः मन्त्र उच्चारण से ही अनुष्ठान में उपकारक होते हैं उनका कोई अर्थ नहीं होता। नियम यह है कि यदि दृष्ट फल सम्भव हो तो अदृष्ट फल की कल्पना नहीं करनी चाहिये। इस नियम को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि यदि मन्त्रों का उद्देश्य उच्चारण मात्र है तो किसी अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना करनी पड़ेगी और यदि मन्त्रों का अर्थ स्वीकार करते हैं तो दृष्ट फल ही मिल जाता है, अदृष्ट फल की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी। अतः ब्राह्मण अनुवादक मात्र है और मन्त्रों के अर्थ होते हैं, इस शंका का उत्तर देने के लिए सूत्र लिखा गया है—'वाक्यनियमात्' अर्थात् मन्त्रों के वाक्यों के पदक्रम के नियम से ऐसा लगता है कि मन्त्र अर्थबोधक नहीं होते। 'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्' इस वाक्य को

इसी प्रकार पढ़ना चाहिये, यह नियम मन्त्र में पाया जाता है किन्तु अर्थ का वोध तो 'मूर्धाग्निर्दिवः ककुत्' इस व्युत्क्रम पाठ में भी होता ही है। अतः नियमपाठ-क्रम की सफलता के लिए उच्चारण ही मन्त्र का प्रयोजन सिद्ध होता है अर्थ नहीं।

ननु पाठक्रमनियममात्रस्य अदृष्टार्थत्वेऽपि मन्त्रपाठोऽर्थबोधार्थ एव इत्याशङ्क्य तत्र दोषान्तरं सूत्रयति—

'बुद्धशास्त्रात्' (जै० १।२।३३) इति।

'अग्नीदग्नीन् विहर' (तै० सं० ६।३।१।२) इति प्रैषमन्त्रः प्रयोगकाले पठ्यते। तच्च अग्निविहरणादिकं आग्नीध्रेण अध्ययनकाले एव स्वीकर्त्तव्यत्वेन बुद्धम्। तस्य च बुद्धस्यार्थस्य पुनर्मन्त्रोच्चारणेन शासनमनर्थकम्। नहि सोपानत्के पादे पुनरपि उपानहं प्रतिमुञ्चति।

ननु बुद्धस्याप्यर्थस्य प्रामादिकविस्मरणपरिहाराय मन्त्रेण स्मारणमस्तु इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

'अविद्यमानवचनात्' (जै० १।२।३४) इति।

'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य' (ऋ० ४।५८।३) इति मन्त्र आम्नायते। न खलु चतुःशृङ्गत्वाद्युपेतं किञ्चित् यज्ञसाधनं विद्यते यन्मन्त्रपाठेनानुस्मर्येत।

ननु ईदृशी काचिद् देवता स्यादित्याशङ्क्य अन्यं दोषं सूत्रयति—'अचेतनेऽर्थबन्धनात्' (जै० १।२।३५) इति।

'ओषधे त्रायस्वैनम्' 'शृणोत ग्रावाणः' इत्यादावचेतने द्रव्ये चेतनोचितरक्षणश्रवणाद्यर्थं बध्नाति। स चायुक्तः।

ननु अभिमानिव्यपदेश इति वैयासिकशास्त्रे सूत्रितत्वात् ओषध्याद्यभिमानिचेतनदेवतात्र विवक्ष्यतामित्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

'अर्थविप्रतिषेधात्' (जै० १।२।३६) इति।

'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' (ऋ० १।८९।१०) इति मन्त्रः आम्नायते। यदेव द्यौस्तदेव अन्तरिक्षमित्ययमर्थो विप्रतिषिद्धः। एवम् 'एक एव रुद्रः' (तै० सं० १।८।६।१) 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्राः' (तै० सं० ४।५।११।१) इत्यादिकमपि उदाहर्त्तव्यम्।

अ०—पाठक्रम का नियममात्र, अदृष्ट के लिए है और मन्त्रपाठ तो अर्थबोध के लिए ही है ऐसी शङ्का करके दूसरे दोष के लिए सूत्र लिखते हैं—'बुद्धशास्त्रात्'। अर्थात् ज्ञात वस्तु का मन्त्रों में पुनः शासन होने से भी मन्त्रों में अर्थबोधकता नहीं होती है। 'अग्नीदग्नीन्विहर' यह प्रैष मन्त्र यज्ञ के प्रयोगकाल में पढ़ा जाता है। वह अग्निविहरण आदि तो आग्नीध्र पुरोहित के द्वारा अध्ययन काल में ही अपने

कर्तव्य के रूप में ज्ञात है, उसी ज्ञात अर्थ का पुनः मन्त्र के उच्चारण से शासन अनर्थक है क्योंकि लोक में भी 'जिस पैर में जूते हैं उसमें पुनः जूता नहीं पहना जाता है, ऐसा नियम है। ज्ञात अर्थ के भी, प्रामादिक विस्मरण के परिहार के लिए, मन्त्र से स्मरण कराया जाता है, ऐसी शङ्का करके दूसरे दोष के लिए सूत्र लिखते हैं—'अविद्यमानवचनात्' अर्थात् अविद्यमान वस्तु का भी कथन होने से मन्त्रों का कुछ अर्थ नहीं होता हैं। 'चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य' यह मन्त्र पढ़ा जाता है किन्तु चार 'चार सींग वाला तीन पैर, दो शिरवाला, सात हाथवाला कोई भी पदार्थ यज्ञसाधन के रूप में नहीं है जिनका मन्त्रपाठ के द्वारा स्मरण कराया जाता है। हो सकता है कोई ऐसी देवता ही हो, ऐसी शङ्का करके दूसरे दोष को सूत्र में लिखते हैं—'अचेतनेऽर्थबन्धनात्' अर्थात् अचेतन द्रव्यों में प्रयोजन का सम्बन्ध करने से भी मन्त्र अर्थबोधक नहीं होते हैं। 'ओषधे त्रायस्वैनम्' 'शृणोत ग्रावाणः' इत्यादि अचेतन द्रव्यों में चेतनोचित रक्षण श्रवण आदि अर्थ को सम्बद्ध किया गया है जो कथमपि उचित नहीं है। वादरायण सूत्रों में 'अभिमानिव्यपदेशः' ऐसा सूचित होने से यहाँ 'ओषधि आदि के अभिमानी चेतन देवता यहाँ विवक्षित हो' ऐसी शङ्का करके दूसरे दोष को सूत्र में लिखते हैं—'अर्थविप्रतिषेधात्' अर्थात् मन्त्रों में परस्पर विरोध होने के कारण भी मन्त्रों का अर्थ नहीं होता है। 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' यह मन्त्र पढ़ा जाता है। जो अदिति द्यौ है वही अदिति अन्तरिक्ष है, यह अर्थ परस्पर विरुद्ध है। इसी प्रकार 'एक एव रुद्रः' अर्थात् एक ही रुद्र है,' सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्राः' अर्थात् जो हजारों रुद्र हैं, इत्यादि का भी उदाहरण दिया जा सकता है।

ननु 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' इत्यादिवत् अन्तरिक्षादिरूपत्वेन अदितिः स्तूयते। एवमेकस्यापि रुद्रस्य योगसामर्थ्यात् बहुमूर्तिस्वीकारोऽस्तु। ततो नार्थविप्रतिषेधः इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

'स्वाध्यायवदवचनात्' (१।२।३७)

पूर्णिका नाम काचिद् योषिदवघातं करोति। तत्समीपे माणवकः स्वाध्यायग्रहणार्थं कदाचित् अवघातमन्त्रमधीते। न च तस्यार्थप्रकाशन-विवक्षा अस्ति, प्रतिमुसलप्रहारं तस्य मन्त्रस्यापठ्यमानत्वात्। अक्षरग्रहणायैव तं मन्त्रमन्यांश्चमन्त्रानभ्यस्यति। तत्र स्वाध्यायकाले पठितोऽपि अवघातमन्त्रो यथा पूर्णिकां प्रति स्वार्थं न ब्रूते तथा कर्मकालेऽपि स्वार्थं न वक्ष्यति।

ननु तत्र माणवकस्य अर्थेविवक्षा नास्ति। पूर्णिकापि अवबोद्धुमक्षमा। कर्मणि तु अध्वर्योरर्थविवक्षा विद्यते, बोधश्च संभवति इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

'अविज्ञेयात्' (१।२।३८) ।

केषांचिन्मन्त्राणामर्थो विज्ञातुं न शक्यते । तद् यथा—'अम्यक्सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे' इत्येको मन्त्रः । 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' इत्यपरो मन्त्रः ।

ननु ईदृशमन्त्रार्थबोधायैव निगमनिरुक्तव्याकरणानि प्रवृत्तानि इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

'अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम्' (जै० १।२।३९) इति ।

'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु' (ऋ० ३।५३।१४) इति मन्त्रे कीकटो नाम जनपद आम्नातः । तथा नैचाशाखं नाम नगरं, प्रमगन्दो नाम राजा इत्येतेऽर्था अनित्या आम्नाताः । तथा च सति प्राक् प्रमगन्दात् नायं मंत्रो भूतपूर्व इति गम्यते ।

तदेवमेतैः तदर्थशास्त्रादिभिर्हेतुभिर्मन्त्राणामर्थप्रत्यायनार्थत्वं नास्ति किंतु उच्चारणाददृष्टार्था एवेति पूर्वपक्षः ।

अ०—'तुम्हीं माता हो और तुम्हीं पिता हो' इत्यादि स्तुतियों की तरह अन्तरिक्ष आदि रूप से अदिति की स्तुति की जाती है । इसी प्रकार एक ही रुद्र की, योग सामर्थ्य से बहुत मूर्तियों का स्वीकार होता है और इसलिए इन मन्त्रों के अर्थों में परस्पर विरोध नहीं है, ऐसी शङ्का करके दूसरे दोष को सूत्र में लिखते हैं—'स्वाध्यायवदवचनात्' अर्थात् जैसे स्वाध्यायकाल में अर्थ की अपेक्षा नहीं होती उसी प्रकार यज्ञकाल में भी अर्थ की अपेक्षा नहीं है । अतः मन्त्र अर्थबोधक नहीं होते हैं । पूर्णिका नाम की कोई स्त्री कूटती [अवघात करती] है, उसके पास बटुक मन्त्रों को याद करने के लिए कदाचित् अवघात मन्त्र पढ़ता है ! मुसल के प्रत्येक प्रहार के साथ उस मन्त्र के न पढ़े जाने के कारण उस मन्त्र के अर्थ प्रकाशन की विवक्षा नहीं है केवल अक्षरग्रहण के लिए ही वह अवघात मन्त्र का और अन्य मन्त्रों का अभ्यास करता है । उस प्रसंग में स्वाध्यायकाल में पढ़ा गया अवघात मन्त्र जैसे पूर्णिका के प्रति स्वार्थ को नहीं कहता, उसी प्रकार यज्ञकाल में भी अपने अर्थ को नहीं कहेगा । उस प्रसंग में बटुक की अर्थ में विवक्षा नहीं है, पूर्णिका भी अर्थ समझने में असमर्थ है, किन्तु यज्ञ में तो अध्वर्यु को अर्थ की विवक्षा रहती है और अर्थ का बोध सम्भव भी है, ऐसी शंका करके दोषान्तर को सूत्र में लिखते हैं—'अविज्ञेयात्' अर्थात् कुछ मन्त्रों के अर्थ तो जाने ही नहीं जा सकते अतः मन्त्रों के अर्थ नहीं हो सकते, जैसे—'अम्यक्सात इन्द्र ऋष्टिरस्मे' यह एक मन्त्र है, सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' यह दूसरा । ऐसे मन्त्रों के अर्थबोध के लिए ही निगम, निरुक्त, व्याकरण प्रवृत्त हुए हैं, ऐसी शंका करके दोषान्तर को सूत्र में लिखते हैं—'अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम्' अर्थात् अनित्य पदार्थों के साथ संयोग होने से

मन्त्रों की अनर्थकता है। 'किंते कृण्वन्ति कीकटेषु' इस मन्त्र में 'कीकट' नामका जनपद पठित है तथा 'नैचाशाख' नामका नगर, 'प्रमगन्द' नाम का राजा, ये अनित्य अर्थ पढ़े गये हैं और इस प्रकार 'प्रमगन्द' नामके राजा के पहले यह मन्त्र नहीं था ऐसा प्रतीत होता है। सो इस प्रकार इन 'तदर्थशास्त्र' आदि हेतुओं से यह सिद्ध है कि मन्त्र अर्थ को नहीं बताते किन्तु उच्चारण से अदृष्ट को ही पैदा करते हैं' यह पूर्वपक्ष है।

तत्र सिद्धान्तं सूत्रयति—

'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः' (जै० १।२।४०) इति।

तु शब्देन मन्त्राणामदृष्टार्थमुच्चारणमात्रं वारयति। क्रियाकारक-संबन्धेन प्रतीयमानो वाक्यार्थो लोकवेदयोरविशिष्टः। तथा सति यथा लोकेऽर्थप्रत्यायनायैव वाक्यमुच्चार्यते तथा वैदिकयागप्रयोगेऽपि द्रष्टव्यम्। मन्त्रेण प्रकाशितस्तु अर्थोऽनुष्ठातुं शक्यते, न तु अप्रकाशितः। तस्मात् मन्त्रोच्चारणस्यार्थप्रकाशनरूपं दृष्टमेव प्रयोजनम्।

ननु 'अभ्रिरसि नारिरसि' (वा० सं० ११।१०) इत्यारभ्य 'त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा ददे' (तै० सं० ४।१।१।३–४) इति मन्त्र आम्नातः। तेनैव मन्त्रेण प्रतीतेऽपि अभ्र्यादाने पुनर्ब्राह्मणे 'तां चतुर्भिरभ्रिमादत्ते' (तै० सं० ५।१।१।४) इति विधीयते। तदेतद् विधानं त्वत्पक्षे व्यर्थं स्यादित्याशङ्क्योत्तर सूत्रयति—

'गुणार्थेन पुनः श्रुतिः' (जै० १।२।४१) इति।

मन्त्रेण प्रतीतस्यैवार्थस्य ब्राह्मणे यत्पुनःश्रवणं तदेतच्चतुःसंख्यालक्षण-गुणविधानार्थत्वेनोपयुज्यते। एतस्य विधानस्याभावे चतुर्णां मन्त्राणां मध्ये येन केनाप्येकेन अभ्रिरादीयेत।

ननु 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य' (वा० सं० २२।२) 'इत्यश्वाभि-धानीमादत्ते' (तै० सं० ५।१।२।१) इत्यत्र मन्त्रसामर्थ्यादेव प्राप्तस्य रशनादानस्य पुनर्ब्राह्मणवाक्यं विनियोजकमाम्नायते। तदेतत् त्वन्मते व्यर्थमित्याशङ्क्योत्तरं सूत्रयति—

'परिसंख्या' (जै० १।२।४२) इति।

'गर्दभाभिधानीं नादत्ते' इति निषेधः परिसंख्या। तदर्थमिदं ब्राह्मण-वाक्यम्।

अ०—अब यहाँ सिद्धान्त को सूत्रों में लिखते हैं—'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः' अर्थात् जिस प्रकार लौकिक के वाक्यार्थ होते हैं उसी प्रकार वैदिक वाक्यों के भी, भिन्न न होने से अर्थ होता है। अतः मन्त्र सार्थक हैं (यही सिद्धान्त है)। सूत्र

में 'तु' शब्द से मन्त्रों का उच्चारण अदृष्ट के लिए है किसी अर्थ को देने के लिए नहीं। इस पूर्वपक्षी के मत का वारण करते हैं। जिस प्रकार लोक में क्रिया-कारक सम्बन्ध से वाक्यार्थ प्रतीयमान होता है, उसी प्रकार वेद में भी होता है, कोई भेद नहीं है। और ऐसी स्थिति में जैसे अर्थ का ज्ञान कराने के लिए ही लोक में वाक्य उच्चारित होता है, वैसे ही वैदिक याग के प्रयोग में भी समझना चाहिए। मन्त्र से प्रकाशित अर्थ का ही अनुष्ठान हो सकता है, अप्रकाशित का नहीं। अतः मन्त्रोच्चारण का अर्थ प्रकाशन रूप प्रयोजन दृष्ट ही है अदृष्ट नहीं। 'अभ्रिरसि नारिरसि' (तुम कुदाल हो, शत्रु नहीं हो) इस मन्त्र से आरम्भ कर 'त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा ददे' यह मन्त्र पढ़ा गया है। उस मन्त्र से ही कुदाल ग्रहण के प्रतीत हो जाने पर भी पुनः ब्राह्मण में 'तां चतुर्भिरभ्रिरमादत्ते' (उस कुदाल को चार मन्त्रों से ग्रहण करता है) इसका विधान किया गया है। सो यह विधान तुम्हारे (पूर्वपक्षी के) मत में व्यर्थ ही हो जायेगा, ऐसी शंका करके उत्तर सूत्र लिखते हैं—'गुणार्थेन पुनः श्रुतिः' अर्थात् गुण विधान के प्रयोजन से मन्त्र के द्वारा प्रतीत अर्थ का ही जो ब्राह्मण में पुनः श्रवण हुआ है, वह पुनः इस चार संख्या रूपी गुण के विधान के प्रयोजन से उपयुक्त है। यदि इसका विधान नहीं होता तो चारों मन्त्रों में से जिस किसी एक ही मन्त्र से कुदाल का ग्रहण हो जाता किन्तु इस ब्राह्मण ग्रन्थ से चारों मन्त्रों के द्वारा कुदाल का ग्रहण होता है। अतः ब्राह्मणग्रन्थ व्यर्थ नही हैं। 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य' इस मन्त्र का विनियोजक 'अश्वाभिधानीमादत्ते' यह ब्राह्मण वाक्य पढ़ा गया है। मन्त्र के सामर्थ्य से ही प्राप्त रशनादान का पुनः विनियोजक जो ब्राह्मण वाक्य है वह तो तुम्हारे मत में व्यर्थ है ? ऐसी शंका करके उत्तर के लिए सूत्र लिखते हैं—'परिसंख्या[1]' अर्थात् दो की एक साथ प्राप्ति होने पर इतर की व्यावृत्ति

---

१. मीमांसा शास्त्र में तीन प्रकार की विधियाँ बतायी गयी हैं— i) अपूर्व विधि (ii) नियम विधि (iii) परिसंख्याविधि। अन्य प्रमाणों से अज्ञात अर्थ को बताने वाली विधि अपूर्व विधि है, जैसे—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' अर्थात् स्वर्ग की इच्छा हो तो अग्निहोत्र करे। अब यहाँ स्वर्ग की इच्छा से अग्निहोत्र का करना किसी भी अन्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता अपितु इस विधि वाक्य से ही होता है, अतः यह अपूर्व विधि है।

जहाँ कई उपायों से कार्य सम्पन्नता सम्भव हो वहाँ किसी एक ही उपाय को नियमित करने वाली विधि को नियम विधि कहते हैं, जैसे 'व्रीहीन् अवहन्ति' यह नियमविधि का उदाहरण है। बात यह है कि अवघात (कूटना) का तात्पर्य धान से तुष (भूसा) को अलग करना है, सो यह कार्य तो नख से या अन्य किसी क्रिया से भी सम्भव है, किन्तु अवघात करके ही तुष को अलग करना

(निषेध) करने वाली विधि । 'घोड़े की लगाम को ही पकड़े गदहे की लगाम नहीं' इस निषेध को परिसंख्या कहते हैं। इस परिसंख्या के लिए भी ब्राह्मण वाक्य सार्थक हैं।

ननु परिसंख्यायां त्रयो दोषाः प्राप्नुयुः—'आदत्ते' इति शब्दो रशनादानलक्षणं स्वार्थं जह्यात् । तन्निषेधलक्षणः परार्थोऽस्य शब्दस्य कल्प्येत । रशनात्वसामान्येन च प्राप्तं गर्दभरशनाया आदानं बाध्येत इति त्रयो दोषाः । मैवम् । गर्दभरशनाया अप्राप्तत्वात् । तथाहि तत्पक्षे प्रकरणपाठान्यथानुपपत्त्या मन्त्रेणानेन आदानं कुर्यादिति वाक्यं परिकल्प्यते । तेन च वाक्येन मन्त्रादानयोः संबन्धे सिद्धे सति पश्चात् किंविषयकमादानमिति वीक्षायां लिङ्गाद् रशनामात्रस्यादानमुपेत्य गर्दभरशनायाः प्राप्तिर्वक्तव्या । सा च विलम्ब्यते । 'इति अश्वाभिधानीम्' इति प्रत्यक्षेण वाक्येन मन्त्रादानयोः संबन्धे सति लिङ्गात् रशनामात्रे प्राप्तमादानम् 'अश्वाभिधानीम्' इति श्रुत्या विशेषे व्यवस्थाप्यते । ततो मन्त्रस्य निराकांक्षत्वात् गर्दभरशनाया अप्राप्तत्वान्नास्ति प्राप्तबाधः । अत एव निषेधार्थो न कल्प्यते, विध्यर्थश्च न त्यज्यते । तत्र कुतो 'दोषत्रयम् ? ईदृशमप्राप्तिरूपमेव गर्दभरशनाया निवारणमभिप्रेत्य 'परिसंख्या' इति सूत्रितम् ।

अ०—यहाँ विचारणीय यह है कि परिसंख्या में तीन दोष प्राप्त होते हैं—

(१) 'आदत्ते' यह शब्द रशनादानरूप स्वार्थ को छोड़े (यह श्रुतहानि दोष कहलाता है) ।

चाहिए, ऐसा विधि नियम कर ही है अतः यह नियम विधि है ।

दो की एक साथ प्राप्ति होने पर इतर की व्यावृत्ति (निषेध) करने वाली विधि को परिसंख्या विधि कहते हैं, जैसे—'पञ्च पञ्चनखाः भक्ष्याः' अर्थात् पाँच नख वाले पाँच का (शश, गोधा, कूर्म, खड्गी और शल्यक) भक्षण करना चाहिये । यहाँ तथ्य यह है कि पाँच नख वालों और पाँच से कम या अधिक नख वालों का भक्षण राग से ही प्राप्त है। पाँच नखवाले पाँच का भक्षण करना चाहिये यह कथन कुछ विशेष अर्थ नहीं रखता । अतः परिसंख्या विधि के अनुसार पाँच से कम या अधिक नखवालों और पाँच नखवालों में भी पाँच से (शश, गोधा, कूर्म, खड्गी और शल्यक) अन्य का निषेध हो जायेगा । यही परिसंख्या विधि का तात्पर्य है ।'

इस प्रसंग में 'अश्वाभिधानीमादत्ते', इस स्थल पर परिसंख्या विधि के अनुसार घोड़े की लगाम ग्रहण कराना ही लक्ष्य नहीं है अपितु गर्दभ की लगाम के ग्रहण का निषेध भी है ।

(२) 'आदत्ते' यह शब्द रशनादाननिषेधरूप अन्य की कल्पना करे (यह अश्रुत कल्पना दोष है)।

और (३) रशनात्वसामान्य से प्राप्त गर्दभरशना के आदान का बाध करे (इसे प्राप्तबाध दोष कहते हैं)। तात्पर्य यह कि 'अश्वाभिधानीमादत्ते' का शब्दार्थ है अश्व की लगाम को पकड़े। परन्तु इसका तात्पर्य है गर्दभ की लगाम को न पकड़े। 'अतः अश्व की लगाम को पकड़े' यह जो सुनाई देता है, उसे छोड़ना पड़ता है, 'गर्दभ को लगाम को न पकड़े' यह जो सुनाई नहीं देता उसकी कल्पना करनी पड़ती है और सामान्य (रशनादान—लगाम का पकड़ना) से प्राप्त गर्दभ-रशनादान का बाध करना पड़ता है। यतः ये तीनों अर्थ अभिधावृत्ति से प्राप्त नहीं होते अपितु लक्षणावृत्ति से प्राप्त होते हैं और इसीलिए लक्षणा करनी पड़ती है, जो दोष है। परिसंख्या श्रौती और लाक्षणिकी के भेद से दो प्रकार की होती है। जहाँ 'एव' या 'नञ्' सुनाई पड़ते हैं वहाँ अभिधा से ही इतर का निषेध हो जाने के कारण श्रौती, और जहाँ इतर के निषेध को जगाने वाला शब्द नहीं रहता वहाँ लक्षणा करनी पड़ती है अतः लाक्षणिकी परिसंख्या होती है। इस लाक्षणिकी में तीन दोष होते हैं—

श्रुतार्थस्य परित्यागादश्रुतार्थप्रकल्पनात्।
प्राप्तस्य बाधादित्येवं परिसंख्या त्रिदूषणम्॥

इन तीनों दोषों के होने की शंका करके उत्तर देते हैं—इस प्रकार की बात नहीं है क्योंकि गर्दभरशना तो प्राप्त ही नहीं है। इसी को स्पष्ट करते हैं—प्रकरण पाठ की अन्यथा अनुपपत्ति (दूसरे ढंग से उपपत्ति न हो सकने) के कारण पूर्वपक्षी के मत में 'इमामगृभ्णन्' इस मन्त्र से 'आदान करे' इस वाक्य की परिकल्पना होती है और उस वाक्य से मन्त्र और आदान के सम्बन्ध सिद्ध हो जाने पर, बाद में, किंविषयक आदान, (किसका आदान) ऐसे प्रश्न के उपस्थित होने पर 'लिङ्ग' से रशनामात्र (अश्वरशना तथा गर्दभरशना इन दोनों) के आदान में मन्त्र की प्रवृत्ति होने से गर्दभरशना की प्राप्ति कही जा सकती है, किन्तु यह प्राप्ति तो विलम्ब से होती है और इसी बीच 'इत्यश्वाभिधानीम्' इस प्रत्यक्ष वाक्य के द्वारा मन्त्र और आदान के सम्बन्ध के व्यवस्थित हो जाने पर 'लिङ्ग' से रशनामात्र (अश्वरशनादान और गर्दभरशनादान) में प्राप्त आदान को 'अश्वाभिधानीम्' इस श्रुति से विशेष (अश्वरशनादान) अर्थ में व्यवस्थित किया जाता है क्योंकि लिङ्ग से श्रुति बलीयसी होती है। अश्वरशनादान में मन्त्र के विनियुक्त हो जाने के कारण मन्त्र निराकांक्ष हो गया और उसके निराकांक्ष होने से गर्दभरशना की प्राप्ति नहीं होगी अतएव प्राप्तबाध का कोई प्रश्न ही नहीं

उठता। इस प्रकार निषेधार्थ की कल्पना नहीं की जाती और विध्यर्थ का त्याग भी नहीं किया जाता, तब भला तीन दोष कहाँ हैं। इस प्रकार की अप्राप्ति रूप गर्दभरशना के निवारण के अभिप्राय से ही 'परिसंख्या' ऐसा सूत्र बनाया गया है। अर्थात् प्राप्त बाध का नहीं अपितु अप्राप्तबाध का निषेध यहाँ होता है। बाध, प्राप्तबाध और अप्राप्तबाध इन भेदों से दो प्रकार का होता है।

ननु 'उरु प्रथस्व इति प्रथयति' इति ब्राह्मणस्य वैयर्थ्यं तदवस्थमेव इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'अर्थवादो वा' (जै० १।२।४३)।

वाशब्दो वैयर्थ्यं वारयति। अस्त्यत्र अर्थवादः 'यज्ञपतिमेव तत् प्रथयति' इति। अर्थवादेन संबन्धाय ब्राह्मणे विधिः पठ्यते।

ननु प्रथयति इत्यनेनैव विधिशब्देन प्रथममनूद्य 'यज्ञपतिमेव' इत्यादिनार्थवादेन स्तोतव्यम्। तदेव तु प्रथनं कुतः प्राप्तमित्याशङ्क्य आह—

'मन्त्राभिधानात्' इति। अध्वर्युः पुरोडाशमुद्दिश्य मन्त्रे 'प्रथस्व' इत्येवमभिधत्ते। तस्मादभिधानाद् अध्वर्युकर्तृकं प्रथनं प्राप्तम्। यथा, लोके यः कुरु इति ब्रूते स कारयत्येव, तथात्रापि यः प्रथस्व इति ब्रूते स प्रथयत्येव।

यदुक्तम् 'अग्निर्मूर्द्धा दिवः' इति पाठक्रमनियमाद् अदृष्टार्थो मन्त्र इति तत्रोत्तरं सूत्रयति—

'अविरुद्धं परम्' (जै० १।२।४४) इति।

परं द्वितीयसूत्रोक्तम् अस्मत्पक्षेऽपि अविरुद्धम्। न हि वयं पाठक्रमनियमाददृष्टं निवारयामः। किं तर्हि? मन्त्रोच्चारणेन जायमानमर्थप्रत्यायनं दृष्टप्रयोजनत्वान्नोपेक्षितव्यम् इत्येतावदेव ब्रूमः।

अ०—'उरु प्रथस्व इति प्रथयति' इस ब्राह्मण वाक्य का वैयर्थ्य तो जैसा का तैसा ही है (मन्त्रों में अर्थ की विवक्षा होने के कारण 'उरु प्रथस्व' इस मन्त्र से ही उक्त ब्राह्मण वाक्य गतार्थ है) ऐसी शंका करके उत्तर के लिए सूत्र लिखते हैं—'अर्थवादो वा' अर्थात् यहाँ एक अर्थवाद है। सूत्र का वा शब्द ब्राह्मण वाक्य के वैयर्थ्य का निवारण करता है। यहाँ 'यज्ञपतिमेव तत्प्रथयति' यह अर्थवाद है। उस अर्थवाद के साथ सम्बन्ध के लिए ब्राह्मण में विधि पढ़ी गयी है क्योंकि अर्थवाद का सम्बन्ध विधि के साथ ही होता है मन्त्र के साथ नहीं। यदि विधि का पाठ न होता तो अर्थवाद का सम्बन्ध किसके साथ होता। अतः सम्बन्ध को ठीक करने के लिए विधि का पाठ है। 'प्रथयति' इस विधि शब्द से 'प्रथन' का अनुमान करके 'यज्ञपतिमेव०' इत्यादि अर्थवाद से स्तुति होनी चाहिये। किन्तु वह प्रथम ही कहाँ से प्राप्त है, ऐसी शंका करके कहते हैं—'मन्त्राभिधानात्' अर्थात् मन्त्र अभि-

धान से। अध्वर्यु पुरोडाश को उद्देश्य करके मन्त्र में 'प्रथस्व' ऐसा कहता है, उसके उस कहने से ही अध्वर्युकर्तृक प्रथन प्राप्त होता है। जिस प्रकार लोक में जो करो ऐसा कहता है वही करता भी है, उसी प्रकार यहाँ भी जो 'प्रथस्व' (फैलो) ऐसा कहता है वही फैलाता भी है। जो यह कहा गया कि 'अग्निर्मूर्धा दिवः' आदि मन्त्रों में पाठक्रम का नियम होने के कारण मन्त्रों का प्रयोजन अदृष्ट ही है, उनका अर्थ नहीं होता, उसका उत्तर सूत्र से देते हैं—'अविरुद्धं परम्' अर्थात् मन्त्र अदृष्टार्थक हैं, यह बात, 'मन्त्र सार्थक होने से दृष्टार्थक हैं' ऐसा कहने वाले के लिए विरुद्ध नहीं है। द्वितीय सूत्र (वाक्यनियमात्) में कही गयी बात हम लोगों के पक्ष में भी विरुद्ध नहीं है। हमलोग पाठक्रम के नियम से जो अदृष्ट होता है उसका निवारण नहीं करते अपितु 'मन्त्रोच्चारण से उत्पन्न अर्थ का बोध दृष्टप्रयोजन है, इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये' इतना ही कहते हैं।

ननु 'प्रोक्षणीरासादय' (वा० सं० १।२८) इति मन्त्रो बुद्धमेव अर्थं शास्ति। तदयुक्तम्। सोपानत्कस्य उपानदन्तरासंभवात् इत्युक्तमिति चेत्। तस्य परिहारं सूत्रयति—

'संप्रैषकर्मणो गर्हानुपलम्भः संस्कारत्वात्' (जै० १।२।४५) इति।

संप्रैषकर्मणो गर्हा त्वदुक्तदोषो नोपलभ्यते। बुद्धस्याप्यर्थस्य मन्त्रेणैवानुस्मरणे सति नियमादृष्टलक्षणस्य संस्कारस्य सद्भावात्।

यच्चोक्तं 'चत्वारि शृङ्गाः' इति मन्त्रो असन्तमेवार्थमभिधत्ते इति, तस्योत्तरं सूत्रयति—

'अभिधानेऽर्थवादः' (जै० १।२।४६)।

असतोऽर्थस्य अभिधायके वाक्ये गौणस्यार्थस्योक्तिर्द्रष्टव्या। तद् यथा चत्वारो होत्रध्वर्यूद्गातृब्रह्माणोऽस्य कर्मणः शृङ्गाणि। प्रातःसवनादयस्त्रयः पादाः। पत्नीयजमानौ द्वे शीर्षे। गायत्र्यादीनि सप्तछन्दांसि हस्ताः। ऋग्वेदादिभिस्त्रिभिर्वेदैस्त्रेधा बन्धनम्। कामान् वर्षतीति वृषभः। रोरवीति स्तोत्रशस्त्रादिशब्दान् पुनः पुनः करोति। महो देवः सोऽयं प्रौढो यज्ञरूपो देवो मर्त्यान् आविवेश इति मनुष्या एवात्राधिकारिणः। लोकेऽपि एवं गौणप्रयोगा दृश्यन्ते—'चक्रवाकस्तनी, हंसदन्तावली, काशवस्त्रा, शैवालकेशिनी' इत्येवं नद्याः स्तूयमानत्वात्। एवम् 'ओषधे त्रायस्व', 'शृणोत ग्रावाणः' इत्याद्यचेतनसंबोधनानि स्तुतिपरत्वेन योजनीयानि। यस्मिन् वपने ओषधिरपि त्रायते तत्र वपनकर्ता त्रायते इति किमु वक्तव्यम्। तथा ग्रावाणोऽपि प्रातरनुवाकं शृण्वन्ति किमुत विद्वांसो ब्राह्मणा इत्यामन्त्रणाभिप्रायः।

अ०—जिसप्रकार पहले से पहने गये जूते वाले पैर में दूसरे जूते का पहनना

उचित नहीं है उसीप्रकार 'प्रोक्षणीरासादय' यह मन्त्र ज्ञात अर्थ को ही कहता है, जो उचित नहीं है, ऐसा जो कहा गया है उसका परिहार सूत्र में देते हैं—'संप्रैषकर्मणो गर्हानुपलम्भः संस्कारत्वात्' अर्थात् संस्कार होने से अनुज्ञा वाक्यों की निन्दा उपलब्ध नहीं होती। ज्ञात अर्थ का भी मन्त्रों के द्वारा अनुस्मरण होने पर नियमादृष्ट रूप संस्कार की सत्ता होने से तुम्हारे द्वारा कहा गया अनुज्ञा वाक्यों का निन्दारूप दोष उपलब्ध नहीं होता।

और जो यह कहा गया है कि 'चत्वारि शृङ्गाः' यह मन्त्र अविद्यमान अर्थ को ही कहता है, इसका उत्तर सूत्र में देते हैं—'अभिधाने अर्थवादः' अर्थात् अभिधान में अर्थवाद समझें। अभिधान अर्थ के कहने वाले वाक्य में गौण अर्थ की उक्ति समझनी चाहिये, जैसे 'चत्वारि शृङ्गाः' यह मन्त्र। होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा ये चार यज्ञ के सींग हैं, प्रातः सवन, मध्याह्न सवन, सायंकालसवन, ये तीनों यज्ञ के पाद हैं, यजमान और उसकी पत्नी, दो सिर हैं, गायत्री आदि सात छन्द, इसके हाथ हैं, ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद, इन तीनों से यज्ञ का तीन प्रकार का बन्धन है। इच्छाओं की वर्षा करने वाला वृषभ है। रोरवीति का अर्थ स्तोत्र, शस्त्र आदि शब्दों को पुनः पुनः करना है। महो देवः अर्थात् यह प्रौढ़ यज्ञरूप देवता मर्त्यान् अर्थात् मनुष्यों में आविवेश अर्थात् प्रवेश कर गया, इसलिए मनुष्य ही यज्ञ के अधिकारी हैं। लोक में भी इस प्रकार के गौण प्रयोग देखे ही जाते हैं—चक्रवाकस्तनी, हस्तदन्तावली, काशवस्त्रा, शैवालकेशिनी, इस प्रकार के विशेषणों से नदी की स्तुति होती है। इस प्रकार 'ओषधे त्रायस्व' 'शृणोत ग्रावाणः' इत्यादि अचेतन सम्बोधनों को स्तुति परक ही समझना चाहिये! जिस वपन में ओषधि रक्षा करती है उसमें वपनकर्त्ता रक्षा करता है, तो कहना ही क्या। इसी प्रकार यदि पत्थर प्रातरनुवाक को सुनते हैं तो भला विद्वान् ब्राह्मण सुनें इसमें क्या आश्चर्य। यही आमन्त्रण का अभिप्राय है।

योऽपि 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' इति विप्रतिषेध उक्तः, तस्योत्तरं सूत्रयति—

'गुणादविप्रतिषेधः स्यात्' (जै० १।२।४७) इति।

'यथा त्वमेव पिता त्वमेव माता' इत्यत्र गौणप्रयोगादविरोधस्तद्वत्। एवमेकरुद्रदेवत्ये कर्मणि एको रुद्रः शतरुद्रदेवत्ये शतं रुद्रा इति अविरोधः।

यदप्युक्तं 'स्वाध्यायमधीयानो माणवकः पूर्णिकाया अवहन्ति न प्रकाशयितुमिच्छति' इति तत्रोत्तरं सूत्रयति—

'विद्यावचनमसंयोगात्' (जै० १।२।४८)।

वेदविद्याग्रहणकालेऽर्थस्य यदवचनं तदयज्ञसंयोगादुपपद्यते। न हि पूर्णिकाया अवघातो यज्ञसंयुक्तः। नापि माणवको यज्ञमनुतिष्ठति। अतो

यज्ञानुपकारात् न तत्रार्थविवक्षा ।

यदप्युक्तं 'अम्यक्सा त इन्द्र' 'सृण्येव जर्भरी तूर्फरीतू' इत्यादौ अर्थस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् नास्त्येवार्थः इति, तत्रोत्तरं सूत्रयति—

'सतः परमविज्ञानम्' (जै० १।२।४९) इति ।

विद्यमान एवार्थः प्रमादालस्यादिभिर्न विज्ञायते । तेषां निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः परिकल्पयितव्यः । तद् यथा—'जर्भरी तुर्फरीतू' इत्येवमादीनि अश्विनोरभिधानानि । तेषु हि द्विवचनान्तत्वं लक्ष्यते । आश्विनं चेदं सूक्तम् 'अश्विनोः काममप्राः' (ऋ० १०।१०६।११) इति दर्शनात् । एतदेवाभिप्रेत्य निरुक्तकारो व्याचष्टे 'जर्भरी भर्तारौ इत्यर्थः' 'तुर्फरीतू हन्तारौ इत्यर्थः' (नि० १३।५) इति । एवम् 'अम्यक्सा ते' इत्यादावपि उन्नेयम् ।

अ०—जो भी 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' इत्यादि मन्त्रों में विरोध कहा गया है उसका उत्तर सूत्र में देते हैं—'गुणादविप्रतिषेधः स्यात्' । अर्थात् गौण प्रयोग के कारण विरोध नहीं है । जिस प्रकार त्वमेव पिता त्वमेव माता; यहाँ पर गौण प्रयोग के कारण विरोध नहीं होता उसी प्रकार उपर्युक्त प्रयोगों में भी विरोध नहीं होगा । इसी प्रकार एक रुद्रदेवता वाले यज्ञ में 'एको रुद्रः' और सौ रुद्र देवता वाले यज्ञ में 'शतं रुद्राः' प्रयोग होता है, इसमें कोई विरोध नही है ।

जो यह भी कहा गया है कि 'वेद को पढ़ता हुआ माणवक पूर्णिका के कूटने को प्रकाशित नहीं करना चाहता' इसका भी उत्तर सूत्र में देते हैं—'विद्यावचनमसंयोगात्' अर्थात् अध्ययन काल में यज्ञ का संयोग न होने से मन्त्रों के अर्थ की विवक्षा नहीं होती है । वेदविद्या के ग्रहणकाल में अर्थ का जो अवचन [कथनाभाव] होता है वह यज्ञ के संयोग न होने के कारण ही उपपन्न होता है । पूर्णिका का अवघात यज्ञ से संयुक्त नहीं है और माणवक यज्ञ का अनुष्ठान भी नहीं कर रहा है, अतः यज्ञ का उपकारक न होने से माणवक के स्वाध्याय में अर्थ विवक्षा नहीं होती और जो यह भी कहा गया है कि 'अम्यक्सात इन्द्र' 'सृण्येव जर्भरीतुर्फरीतू' इत्यादि मन्त्रों में अर्थ न जान सकने के कारण मन्त्रों का अर्थ नहीं है, इसका भी उत्तर सूत्र में देते हैं—'सतः परमविज्ञानम्' अर्थात् अर्थ की सत्ता है, केवल वह अज्ञात है । विद्यमान ही अर्थ भला प्रमाद और आलस्य आदि के कारण नहीं जाना जाता । उन सबों का निगम, निरुक्त और व्याकरण के अनुसार धातु से अर्थ की परिकल्पना करनी चाहिये, जैसे 'जर्भरी तुर्फरीतू' इत्यादि अश्विनौ के विशेषण हैं क्योंकि ये द्विवचनान्त हैं । 'अश्विनोः काममप्राः' इससे यह आश्विनसूक्त है, ऐसा स्पष्ट है । इसी बात को सोचकर निरुक्तकारने 'जर्भरी' की व्याख्या भरण करने वाले

११८८२.

'तुर्फरीतू' की व्याख्या हनन करने वाले, की है। इसीप्रकार 'अम्यक्सा त' इत्यादि मन्त्रों से भी अर्थों की उद्भावना कर लेनी चाहिये।

यदप्युक्तं प्रमगन्दाद्यनित्यार्थसंयोगात् मन्त्रस्य अनादित्वं न स्यात् इति, तत्रोत्तरं सूत्रयति—

'उक्तश्चानित्यसंयोगः' (जै० १।२।५०) इति।

प्रथमपादस्यान्तिमाधिकरणे सोऽयमनित्यसंयोगदोष उक्तः परिहृतः। तथाहि तत्र पूर्वपक्षे वेदानां पौरुषेयत्वं वक्तुं काठकं, कालापकम् इत्यादि पुरुषसंबन्धाभिधानं हेतूकृत्य 'अनित्यदर्शनाच्च' (जै० १।१।२८) इति हेत्वन्तरं सूत्रितम्। तस्यायमर्थः—'बबरः प्रावाहणिरकामयत' (तै० स० ७।१।१०।२) इति अनित्यानां बबरादीनामर्थानां दर्शनात् ततः पूर्वम् असत्त्वात् पौरुषेयो वेद इति। तस्योत्तरमेवं सूत्रितम्—'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (जै० १।१।३१) इति। तस्यायमर्थः--यत् काठकादिसमाख्यानं तत् प्रवचननिमित्तम्। यत्तु परं बबराद्यनित्यदर्शनं तत् शब्दसामान्यमात्रम्। न तु तत्र अनित्यो बबराख्यः कश्चित् पुरुषो विवक्षितः, किंतु बबरः इति शब्दानुकृतिः। तथा सति बबर इति शब्दं कुर्वन् वायुरभिधीयते। स च प्रावाहणिः प्रकर्षेण वहनशीलः। एवमन्यत्राप्यूहनीयम्। तदेवं कस्यचिदपि दोषस्यासंभवात् विवक्षितार्था मन्त्राः स्वार्थप्रकाशनायैव प्रयोक्तव्याः।

अ०—और जो भी कहा गया है कि प्रमगन्दादि अनित्य पदार्थों के संयोग से मन्त्रों को अनादि नहीं कह सकते, इसका भी उत्तर सूत्र में देते हैं—'उक्तश्चानित्यसंयोगः'। अर्थात् अनित्यसंयोग कह दिया गया है। प्रथमपाद के अन्तिम अधिकरण में यह अनित्यसंयोग दोष कहा गया है और परिहृत किया गया है। इसी को स्पष्ट करते हैं—वहाँ पूर्वपक्ष में वेदों के पौरुषेयत्व को कहने के लिए 'काठक' 'कालापक' इत्यादि पुरुष के सम्बन्ध को हेतु बनाकर 'अनित्यदर्शनाच्च' इस हेत्वन्तर को सूत्र में कहा गया है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—'बबरः प्रावाहणिरकामयत' इसमें बबरादि अनित्य अर्थों के दिखाई देने से उनके पूर्व वेद की सत्ता न होने से वेद पौरुषेय है, यह निश्चित है। इसके उत्तर में सूत्र लिखते हैं—'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्'। अर्थात् जो काठक आदि का कथन है वह प्रवचन की दृष्टि से है निर्माण की दृष्टि से नहीं (काठक आदिने वेद का प्रवचन किया है। नूतन निर्माण नहीं) और जो तो 'बबर' आदि अनित्य पदार्थों के दिखाई पड़ने की बात है, वह शब्द सामान्य मात्र है। (बबर नाम वाले व्यक्ति के नाम के साथ इस बबर का शब्द साम्य है, इससे अधिक कुछ नहीं)। वहाँ बबर नाम का कोई

पुरुष विवक्षित नहीं है किन्तु 'बबर' यह शब्दानुकरण है। और इस प्रकार बबर, बबर ऐसा शब्द करता हुआ वायु का अभिधान है और वही वायु प्रकृष्ट वहनशील होने के कारण प्रावाहणि कहलाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी ऊहा करनी चाहिए (समझ लेना चाहिए) सो, इस प्रकार किसी भी दोष के सम्भव न होने के कारण मन्त्रों के अर्थ विवक्षित हैं और उन्हीं अर्थों के प्रकाशन के लिए मन्त्रों का प्रयोग करना चाहिए।

ननु अर्थप्रकाशनार्थत्वे सति दृष्टं प्रयोजनं लभ्यते इति युक्तिमात्र-मिदमुच्यते। न तु एतदुपोद्बलकं किंचित् श्रौतं लिङ्गं पश्यामः इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत्' (जै० १।२।५१) इति।

'आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठेत्' इति श्रूयते। तस्यायमर्थः—अग्निर्देवता यस्या ऋचः सेयमाग्नेयी, तया आग्नीध्रस्थानमुपतिष्ठेत इति। अत्र हि उपस्थानमुपदिशद् ब्राह्मणम् 'अग्ने नय' (ऋ० १।१८९।१) इत्यनया 'उपतिष्ठेत' इति मन्त्रप्रतीकं पठित्वा नोपदिशति, किंतु आग्नेयीत्वलिङ्गेन-उपदिशति। यदा यस्यामृचि अग्निः प्राधान्येन प्रतिपाद्यते तदा तस्या ऋचः अग्निर्देवता भवति। तथा सति आग्नेय्या इति देवतावाचितद्धिता-न्तनिर्देश उपपद्यते। तस्मादयमुपदेशस्तन्मन्त्रवाक्यमर्थवदिति बोधयति। अतो विवक्षितार्थत्वात् अर्थप्रत्यायनार्थं प्रयोगकाले मन्त्रोच्चारणम्।

अ०—मन्त्रों का प्रयोजन अर्थ को प्रकाशित करना है, ऐसा सिद्ध हो जाने पर दृष्ट फल प्राप्त होता है, यह आपका कहना युक्ति मात्र है, इसमें कोई प्रबल समर्थक श्रौतलिङ्ग (प्रमाण) नहीं दिखाई देता, ऐसी शंका करके उत्तर के लिए सूत्र लिखते हैं—'लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत्'। अर्थात् लिङ्गों के द्वारा उपदेश करने से मन्त्र अर्थयुक्त ज्ञात होते हैं। 'आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठेत' यह ब्राह्मणवाक्य सुना जाता है। इसका अर्थ इस प्रकार है—जिस ऋचा की अग्निदेवता है वह आग्नेयी है। उस आग्नेयी से आग्नीध्रस्थान (मण्डपविशेष) का उपस्थान करे। यहाँ उपस्थान का उपदेश करता हुआ ब्राह्मण (ग्रन्थ) 'अग्ने नय' इस ऋचा से 'उपतिष्ठेत' इस मन्त्र प्रतीक को पढ़कर उपदेश नहीं करता है किन्तु आग्नेयीत्व लिङ्ग से उपदेश करता है। जब जिस ऋचा में प्रधानतया अग्नि का प्रतिपादन होता है तब उस ऋचा की अग्नि देवता होती है। वैसी स्थिति में ही 'आग्नेय्या' इस पद में देवतावाची तद्धित प्रत्यय का निर्देश उपपन्न होता है। इसलिए यह उप-देश 'वह मन्त्रवाक्य अर्थवान् है' ऐसा बोध कराता है। अतः मन्त्रों के विवक्षि-तार्थ होने के कारण यज्ञकाल में अर्थ को जानने के लिए मन्त्रोच्चारण होता है।

तस्मिन्नेव विवक्षितार्थत्वे लिङ्गान्तरं सूत्रयति—

'ऊहः' (जै० १।२।५२) इति ।

प्रकृतौ आम्नातस्य मन्त्रस्य विकृतौ समवेतार्थत्वाय तदुचितपदान्तरस्य प्रक्षेपेण पाठः ऊहः । तद् यथा 'अन्वेनं माता मन्यतामनु पितानु भ्राता' (तै० ब्रा० ३।६।६।१) इति प्राकृतः पशुविषयो मन्त्रपाठः । तस्य च मन्त्रस्य विकृतौ पशुद्वये सति 'अन्वेनौ माता मन्यताम्' इत्यूहः । पशुबहुत्वे सति 'अन्वेनान् माता मन्यताम्' इत्यूहः कर्त्तव्यः । एतन्मन्त्रव्याख्यानरूपं ब्राह्मण-मेवमाम्नायते—'न माता वर्द्धते न पिता' इति । तत्रेदं चिन्तनीयम् । किमत्र शरीरवृद्धिर्निषिध्यते, आहोस्वित् शब्दवृद्धिरिति । एकवचनान्तस्य मातृ-शब्दस्य मातरौ इति द्विवचनान्तत्वेन वा, मातरः इति बहुवचनान्तत्वेन वा प्रयोगः शब्दवृद्धिः । तत्र न तावत् शरीरवृद्धिर्निषेद्धुं शक्यते, बाल्यकौ-मारयौवनादिवयोऽनुसारेण तद्वृद्धेः प्रत्यक्षत्वात् । अतः शब्दवृद्धिनिषेध एव परिशिष्यते । मातृशब्दपितृशब्दयोर्विशेषाकारेण वृद्धिनिषेधात् इतरस्य एन-मिति शब्दस्य अर्थानुसारिणी वृद्धिः सूचिता भवति । तत्र यद्यर्थो न विव-क्ष्येत तदा पशुद्वित्वे द्विवचनं पशुबहुत्वे बहुवचनं स कथमूह्येत । तस्माद् विवक्षितार्था मन्त्राः ।

अ०—मन्त्रों में अर्थ की विवक्षा होती है, इसी बात के समर्थन में दूसरे हेतु को सूत्र में लिखते हैं—'ऊहः' अर्थात् प्रकरण के अनुसार लिङ्ग, विभक्ति आदि का विपरिणाम करना । प्रकृति याग में पठित मन्त्र का विकृतियाग में अर्थसंगत करने के लिए वहाँ के लिए उचित दूसरे पद के प्रक्षेप से पाठ करना 'ऊह' कह-लाता है, जैसे—'अन्वेनं माता मन्यताम् अनु पिता अनुभ्राता' यह प्रकृतियाग में पशु-विषयक मन्त्र पाठ है । उस मन्त्र का विकृतियाग में दो पशु होने पर 'अन्वेनौ माता मन्यताम्' इस प्रकार का बदलकर पाठ करना ऊह करना कहलाता है । यदि पशु बहुत हों तो 'अन्वेनान् माता मन्यताम्' इस प्रकार का ऊह करना चाहिये । इस मन्त्र का व्याख्यानरूप ब्राह्मण इस प्रकार पढ़ा जाता है—'न माता वर्धते न पिता' । यहाँ यह विचारणीय है कि यहाँ शरीर की वृद्धि का निषेध है अथवा शब्दवृद्धि का । एकवचनान्त मातृ शब्द का मातरौ इस द्विवचनान्त रूप से अथवा मातरः इस बहुतवचनान्त रूप से प्रयोग शब्दवृद्धि है । शरीरवृद्धि का निषेध तो कर ही नहीं सकते क्योंकि बाल्य, कौमार, यौवन आदि अवस्था के अनु-सार शरीर की वृद्धि प्रत्यक्ष ही है । अतः शब्दवृद्धि का निषेध ही शेष है । मातृ शब्द और पितृ शब्द की विशेषरूप से वृद्धि से निषेध होने से दूसरे 'एनम्' इस शब्द की, अर्थ के अनुसार वृद्धि सूचित होती है । अब प्रश्न यह है कि यदि अर्थ

विवक्षित नहीं है तो दो पशुओं के होने पर द्विवचन वहुल पशुओं के होने पर बहुवचन की ऊहा कैसे होगी । अतः मन्त्रों को अर्थ की विवक्षा होती है ।

तस्मिन्नेवार्थे लिङ्गान्तरं सूत्रयति—

'विधिशब्दाच्च' (जै० १।२।५३) इति ।

मन्त्रव्याख्यानरूपो ब्राह्मणगतः शब्दो विधिशब्दः इति उच्यते । स चैवमाम्नायते—'शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्यास्म इत्येव एतदाह' (श० ब्रा० २।३।४।२१) इति । तत्र 'शतं हिमाः' इत्येतत् व्याख्येयमन्त्रस्य प्रतीकम् । अवशिष्टं तु तस्य तात्पर्यव्याख्यानम् । मन्त्रस्य अविवक्षितार्थत्वे तु किं नाम तात्पर्यं मन्त्रो व्याख्यायेत । तस्माद् विवक्षितार्था मन्त्राः प्रयोगकाले स्वार्थप्रकाशनायैवोच्चारयितव्याः । तत्र संग्रहश्लोकौ—

मन्त्रा उरु प्रथस्वेति किमदृष्टैकहेतवः ।
यागेषूत पुरोडाशप्रथनादेश्च भासकाः ॥
ब्राह्मणेनापि तद्भानान्मन्त्राः पुण्यैकहेतवः ।
न, तद्भानस्य दृष्टत्वाद् दृष्टं वरमदृष्टतः ॥

(जै० न्या० १।३।४)

अ०—मन्त्रों में अर्थ की विवक्षा होती है, इसी को सिद्ध करने के लिए हेत्वन्तर को सूत्र में लिखते हैं—विधिशब्दाच्च अर्थात् और विधिशब्द से । मन्त्र के व्याख्यानरूप जो ब्राह्मणगत शब्द है, उसे विधिशब्द कहते हैं । वह इस प्रकार से पढ़ा जाता है—'शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्यास्मेत्येतदाह' । इसमें 'शतं हिमाः' यह व्याख्येय मन्त्र का प्रतीक है अवशिष्ट तो उसी के तात्पर्य का व्याख्यान है । मन्त्र के अविवक्षितार्थ होने पर भला किस तात्पर्य की मन्त्र में व्याख्या की जायगी ? अतः मन्त्रों के अर्थ विवक्षित हैं उनका यज्ञकाल में अपने अर्थ के प्रकाशन के लिए ही उच्चारण करना चाहिये । इसी को स्पष्ट करने के लिए नीचे दो संग्रहश्लोक दिये गये हैं—

'उरु प्रथस्व' आदि मन्त्र क्या केवल अदृष्ट फल के लिए ही कहे गये हैं । अथवा यज्ञों में पुरोडाश प्रथन आदि के अर्थ के प्रकाशक भी हैं ? यतः ब्राह्मणों के द्वारा भी उसी अर्थ का भान होता है अतः मन्त्र मात्र पुण्य (अदृष्ट) फलवाले हैं, यह मानना उचित नहीं है क्योंकि वह भान (ज्ञान) दृष्टफल है, जबकि यह सिद्धान्त है कि दृष्टफल अदृष्टफल से श्रेष्ठ होता है—लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टफलपरिकल्पना ।

अथ ब्राह्मणभागप्रामाण्यनिरूपणम्

नन्वस्तु मन्त्रभागस्य प्रामाण्यम्, ब्राह्मणभागस्य तु न तद् युज्यते ।

तथा हि, द्विविधं ब्राह्मणम्—विधिरर्थवादश्च। तथा च आपस्तम्बः—'कर्मचोदना ब्राह्मणानि, ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः' (आप० परि० ३४-३५) इति। विधिरपि द्विविधः—अप्रवृत्तप्रवर्त्तनम् अज्ञातार्थज्ञापनं चेति। 'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयम्' (ऐ० ब्रा० १।१) इत्याद्याः कर्मकाण्डगतविधयोऽप्रवृत्तप्रवर्त्तकाः। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ० आ० २।४।१) इत्यादयो ब्रह्मकाण्डगता अज्ञातज्ञापकाः। तत्र कर्मकाण्डगतानां 'जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद् गवीधुकयवाग्वा वा' (तै० सं० ५।४।३।२) इत्यादिविधीनां नास्ति प्रामाण्यम्; - प्रवृत्त्ययोग्यद्रव्यविधानेन सम्यगनुभवसाधनत्वाभावात्। अयोग्यत्वं च वाक्यशेषे समाम्नातम्—'अनाहुतिर्वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्च' (तै० सं० ५।४।३।२) इति तत्र हि आरण्यतिलानाम् आरण्यगोधूमानां च आहुतिद्रव्यत्वं निषिद्धम्। तस्माद् बाधितो जर्तिलादिविधिरप्रमाणम्। एवमैतरेयतैत्तिरीयादिब्राह्मणेषु 'तत्तन्नादृत्यम्' (ऐ० ब्रा० २।२३), 'तत्तथा न कार्यम्' (तै० ब्रा० १।१।८।६) इति वाक्याभ्यां बहवो विधयो निषिद्धाः। अपि च ऐतरेयब्राह्मणे अनुदितहोमं बहुधा निन्दित्वा—'तस्मादुदिते होतव्यम्' (ऐ० ब्रा० ५।३१) इति असकृन्निगदितम्। तैत्तिरीयाश्च तथैवामनन्ति—यदनुदिते सूर्ये प्रातर्जुहुयात् उभयमेवाग्नेयं स्यात्, उदिते सूर्ये प्रातर्जुहोति' (तै० ब्रा० २।१।२।७) इति। पुनरपि त एव उदितहोमे दोषमामनन्ति—'यदुदिते सूर्ये प्रातर्जुहुयाद् यथा अतिथये प्रद्रुताय शून्यायावसथायाहार्यं हरन्ति तादृगेव तत्' (तै० ब्रा० २।१।२।१२) इति। तथैव 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति विधिः 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति निषेधेन बाध्यते। ज्योतिष्टोमादिषु अपि अनुष्ठानानन्तरमेव स्वर्गादिफलं नोपलभ्यते। न हि भोजनानन्तरं तृप्तेरनुपलम्भोऽस्ति। तस्मात् कर्मविधिषु प्रामाण्यं दुःसंपादम्।

अ०—पूर्वपक्षी कहता है—ठीक है, मन्त्रभाग का प्रामाण्य हो तो हो किन्तु ब्राह्मण भाग का तो प्रामाण्य उचित नहीं है, इसी को स्पष्ट करते हैं—ब्राह्मण दो प्रकार के हैं—विधि और अर्थवाद। जैसा कि आपस्तम्ब ने कहा है—'कर्म के लिए प्रेरित करने वाली विधियाँ, ब्राह्मण भाग हैं (और) ब्राह्मण का अवशिष्ट भाग अर्थवाद है। विधि भी दो प्रकार की है—अप्रवृत्त प्रवर्त्तन और अज्ञातार्थज्ञापन। अर्थात् अप्रवृत्त की ओर प्रवृत्त कराने वाली विधि अप्रवृत्तप्रवर्त्तन और प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणों से अज्ञातविषय का ज्ञान कराने वाली विधियाँ अज्ञातार्थज्ञापन हैं। 'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयम्' आदि कर्मकाण्डगत विधियाँ अप्रवृत्तप्रवर्त्तक हैं तथा 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' आदि ब्रह्मकाण्डगत विधियाँ

अज्ञातज्ञापक हैं। उनमें कर्मकाण्ड में आनेवाली 'जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद् गवीधुकयवाग्वा वा' इत्यादि विधियों का प्रामाण्य नहीं है क्योंकि प्रवृत्ति के अयोग्य द्रव्यों के विधान के कारण सम्यग् अनुभव के साधन ये नहीं हैं। वाक्यशेष में विहित द्रव्यों की अयोग्यता कही गयी है—'अनाहुतिर्वै जर्त्तिलाश्च गवीधुकाश्च'। इस वाक्य में जंगली तिलों का और जंगली गेहूँओं का आहुतिद्रव्य के रूप में निषेध किया गया है अतः यह बाधित जर्त्तिलादिविधि अप्रमाण है। इसीप्रकार ऐतरेय तैत्तिरीयादि ब्राह्मणों में क्रमशः 'तत्तन्नादृत्यम्, 'तत्तथा न कार्यम्' इन वाक्यों से बहुत विधियों का निषेध किया गया है और भी ऐतरेय ब्रह्मण में अनुदित होम (सूर्योदय के पूर्व किये गये होम) की बहुत प्रकार से निन्दा करके 'तस्मादुदिते होतव्यम्' अर्थात् सूर्योदय के बाद होम करना चाहिये, यह अनेक बार कहा गया है। तैत्तिरीय शाखा के अध्ययन करने वाले इसी प्रकार कहते हैं—जो अनुदित सूर्य में प्रातः कालीन हवन किया जाय तो दोनों (प्रातः और सायं के होम) अग्नि देवता के हो जायेंगे, अतः सूर्य के उदित होनेपर प्रातः हवन करना चाहिये [ऐसा करने पर प्रातः का होम सूर्य का और सायं का होम अग्नि का होगा] पुनः वे ही लोग उदित होम में दोष बतलाते हैं—सूर्योदय होने पर प्रातः हवन उसीप्रकार है जिस प्रकार अतिथि के चले जाने पर शून्य घर की पूजा की जाय। इसी प्रकार 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' यह विधि 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इस निषेध से बाधित होती है। ज्योतिष्टोमादि यागों में भी [उनके] अनुष्ठान के बाद ही स्वर्गादि फल नहीं मिलता है। ऐसा नहीं होता कि भोजन के बाद ही तृप्ति की प्राप्ति न हो। अतः कर्मविधियों में प्रामाण्य सिद्ध करना अत्यन्त कठिन है।

अज्ञातज्ञापकेषु ब्रह्मविधिष्वपि परस्परविरोधान्नास्ति प्रामाण्यम्। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इति ऐतरेयिण आमनन्ति (ऐ० उ० १।१) 'असद् वा इदमग्र आसीद्' (तै० आ० ८।७) इति तैत्तिरीयाः। सोऽयं विरोधः। तस्मात् वेदे विधिभागः सर्वोऽप्यप्रमाणमिति प्राप्ते ब्रूमः—

अ०—अज्ञातज्ञापक ब्रह्मविधियों में भी परस्पर विरोध होने के कारण प्रामाण्य नहीं है। ऐतरेय शाखा के अध्ययन करने वाले कहते हैं। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्', जब कि तैत्तिरीय शाखा के अध्ययन करने वाले 'असद् वा इदमग्र आसीत्' इस प्रकार इन दोनों का विरोध स्पष्ट है। इसलिए वेद का सम्पूर्ण विधि भाग ही अप्रमाण है। इस स्थिति में कहते हैं—

अस्तु एवं जर्तिलादिविधेरप्रामाण्यं, तदर्थस्याननुष्ठेयत्वात्। अनुष्ठेयस्तु अर्थ उपरितने 'अजाक्षीरेण जुहोति' (तै० सं० ५।४।३।२) इति वाक्ये विधीयते। तत्प्रशंसार्थमत्र जर्तिलादिकमनूद्य निन्द्यते। यथा गवामश्वानां

च प्रशंसार्थम् 'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः' (तै० सं० ५।२।९।४) इति वाक्येनार्थवादरूपेण अजादीनां पशुत्वं निन्द्यते, तद्वत्। एवं तर्हि अजादेर्यथा वस्तुतः पशुत्वमस्ति तथा जर्त्तिलादिविधिरत्र निन्द्यमानोऽपि क्वचित् शाखान्तरे भवेदिति चेत्। भवतु नाम, प्रामाण्यमपि तच्छाखाद्यध्यायिनं प्रति भविष्यति। यथा गृहस्थाश्रमे निषिद्धमपि परान्नभोजनमाश्रमान्तरेषु प्रामाणिकं तद्वत्। अनेन न्यायेन सर्वत्र परस्परविरुद्धौ विधिनिषेधौ पुरुषभेदेन व्यवस्थापनीयौ। यथा मन्त्रेषु पाठभेदः शाखाभेदेन व्यवस्थितस्तद्वत्। तैत्तिरीयाः 'वायवः स्थोपायवः स्थ' (तै० सं० १।१।१) इति मन्त्रमामनन्ति। वाजसनेयिनस्तु 'उपायवः स्थ' इत्येतं भागं नामनन्ति (वा० सं० १।१) प्रत्युत शतपथब्राह्मणे स भागोऽनूद्य निराकृतः (श० ब्रा० १।७।१।३)। तथा सूक्तवाकमन्त्रे शाखान्तरपाठं निराकृत्य पाठान्तरं तैत्तिरीयाः आमनन्ति—'यद् ब्रूयात् सूपावसाना च स्वध्यवसाना चेति प्रमायुको यजमानः स्यात्'—(तै० सं० २।६।९।६) इति निराकरणम्। 'सूपचरणा च स्वधिचरणा चेत्येव ब्रूयाद्' इति पाठान्तरोपदेशः। तत्र अनुष्ठातृपुरुषभेदेन व्यवस्था। तद्वत् विधिषु द्रष्टव्यम्। षोडशिग्रहणादिदूषणं तु अश्रुतमीमांसावृत्तान्तस्य तवैव शोभते। पूर्वमीमांसायां दशमाध्यायस्याष्टमपादे षोडशिनो ग्रहणाग्रहणविकल्पो निर्णीतः (जै० १०।८।६)। द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमपादे कालान्तरभाविफलसिद्ध्यर्थमपूर्वं निर्णीतम् (जै० २।१।५) तद्वदुत्तरमीमांसायां प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादे 'कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः' (ब्र० सू० १।४।१४) इत्यस्मिन् सूत्रे जगत्कारणे परमात्मनि श्रुतिविप्रतिपत्तिर्निराकृता। द्वितीयाध्यायस्य प्रथमे पादे आरम्भणाधिकरणे तु 'असद्व्यपदेशान्नेति चेत्, न, धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्' (ब्र० सू० २।१।१७) इति सूत्रे तैत्तिरीयवाक्यगतस्य असच्छब्दस्य न शून्यपरत्वं किंतु अव्यक्तावस्थापरत्वमिति निर्णीतम्। तथा जैमिनिः चोदनासूत्रे (जै० १।१।२) विधिवाक्यं धर्मे प्रमाणमिति प्रतिज्ञाय औत्पत्तिकसूत्रे (जै० १।१।५) तत्प्रामाण्यं समर्थयामास। व्यासोऽपि 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) इति सूत्रे वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रामाण्यं प्रतिज्ञाय 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इत्यादिसूत्रैः समर्थयामास। तस्मात् अमीमांसकस्य तव पूर्वोक्तस्थाणवन्धन्यायो दुष्परिहरः। अतो विधिभागस्य प्रामाण्यं सुस्थितम्।

अ०—सिद्धान्त प्रतिपादक कहता है—ठीक है, इस प्रकार जर्त्तिल आदि विषयक विधि का अप्रामाण्य है तो रहे, उसमे कोई हानि नहीं क्योंकि उन विधियों के अर्थ अनुष्ठान योग्य नहीं हैं। सच पूछिये तो अनुष्ठान योग्य अर्थ 'अजाक्षीरेण जुहोति' इस ऊपर के वाक्य में विहित होता है। उसी की प्रशंसाके लिए यहाँ

र्जत्तिलादि का अनुवाद करके उनकी निन्दा करते हैं । जैसे गाय और अश्वों की प्रशंसा के लिए 'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्य.' इस अर्थवाद रूप वाक्य से अजा आदि के पशुत्व की निन्दा की जाती है, वैसे ही (यहाँ समझना चाहिये) । इसपर पुनः पूर्वपक्षी कह सकता है—जिस प्रकार अजा आदि के पशुत्व की निन्दा करने पर भी वास्तव में उनका पशुत्व तो है ही उसी प्रकार र्जत्तिलादि विधियाँ निन्द्यमान होने पर भी सम्भव है किसी अन्य शाखा में हों, इस पर सिद्धान्ती कहते हैं—ठीक है हों कोई बात नहीं, प्रामाण्य भी उसी शाखा के अध्ययन करने वाले के लिए होगा । जिस प्रकार गृहस्थाश्रम में परान्न भोजन निषिद्ध होने पर भी अन्य आश्रमों (सन्यास आदि) में भी प्रामाणिक माना जाता है उसी प्रकार जिस शाखा में है उसी शाखा वाले के लिए र्जत्तिलादि विधि प्रामाणिक है । सभी जगह इसी न्याय से परस्पर विरुद्ध विधि-निषेधों की, पुरुष के भेद से, व्यवस्था करनी चाहिये । जिसप्रकार मन्त्रों में पाये गये पाठभेद शाखा के भेद से व्यवस्थित माने जाते हैं, उसी प्रकार (विरुद्ध विधि-निषेध की व्यवस्था समझनी चाहिये) तैत्तिरीय शाखा के अध्ययन करने वाले 'वायवः स्थोपायवःस्थ' ऐसा मन्त्र पढ़ते हैं जबकि वाजसनेयी शाखा के अध्ययन करने वाले 'उपायवःस्थ' इस भाग को नहीं पढ़ते हैं, इतना ही नहीं प्रत्युत शतपथ ब्राह्मण में इस भाग को पढ़ कर इसका निराकरण कर दिया गया है । इसीप्रकार सूक्तवाक मन्त्र में, अन्य शाखा के पाठ का निराकरण करके, तैत्तिरीय शाखा के अध्ययन करने वाले अन्य पाठ को इस प्रकार कहते हैं—'यद्ब्रूयात् सूपावसाना च स्वध्यवसाना चेति प्रमायुको यजमानः स्यात्' ऐसा निराकरण है । 'सूपचरणा च स्वधिचरणा चेत्येव ब्रूयात्' यह पाठान्तर का उपदेश है । उनमें अनुष्ठाता पुरुष के भेद से ही व्यवस्था करनी चाहिये । उसी प्रकार विधिवाक्यों में भी समझना चाहिये । षोडशिग्रहण आदि दोष तो मीमांसा शास्त्र के विचारों से अनभिज्ञ आपको ही शोभा देता है । पूर्वमीमांसा के दशवें अध्याय के आठवें पाद में षोडशी पात्र के ग्रहण करने और न करने के विकल्प का निर्णय किया गया है । (इसी प्रकार) द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में कालान्तर में घटने वाले फल की सिद्धि के लिए अपूर्व[1] का निर्णय किया

---

१. बात यह है कि यदि 'स्वर्गकामो यजेत' जैसी विधियों का अनुष्ठान करने पर स्वर्ग आदि फल की प्राप्ति अवश्य होती है ऐसा मानने पर यदि युवक व्यक्ति स्वर्ग प्राप्ति के लिए याग करे तो उसे भोजनोपरान्त सद्यः तृप्ति के समान यागोपरान्त सद्यः स्वर्ग की प्राप्ति होनी चाहिए, किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता है । इसी विप्रतिपत्ति को हटाने के लिए मीमांसकों ने 'अपूर्व' की कल्पना की है । अर्थात् याग के अनुष्ठान से अपूर्व बनता है और वह अपूर्व यजमान के साथ

गया है। उसी प्रकार उत्तर मीमांसा के प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद में 'कारणत्वेन तथा चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः, इस सूत्र में जगत् के कारण परमात्मा के विषय में श्रुतिवाक्यों की सभी विप्रतिपत्तियों का निराकरण किया गया है। द्वितीयाध्याय के प्रथमपादके आरम्भणाधिकरण में तो 'असद् व्यपदेशान्नेति चेत्, 'न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्' इस सूत्र में तैत्तिरीय वाक्य में आने वाले असत् शब्द का अर्थ शून्य नहीं है अपितु अव्यक्तावस्था है, ऐसा निर्णय किया गया है। इसी प्रकार जैमिनि मुनि ने 'चोदना सूत्र' में; विधिवाक्य धर्म में प्रामाण्य हैं; ऐसी प्रतिज्ञा करके औत्पत्तिक सूत्र में उसके प्रमाण का समर्थन किया था। महर्षि व्यास ने भी 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्र में ब्रह्म में वेदान्त वाक्यों के प्रामाण्य की प्रतिज्ञा करके 'तत्तु समन्वयात्' सूत्रों के द्वारा उसका समर्थन किया था। अतः मीमांसा शास्त्र से अनभिज्ञ आप के विषय में पूर्वोक्त 'स्थाण्वन्धन्याय' ही उद्धृत किया जा सकता है (यह स्थाणु का दोषः नहीं है कि अन्धा उसे नहीं देखता प्रत्युत अन्धे का ही दोष है—नैव स्थाणोः दोषः यदेतमन्धो न पश्यति।)। इसलिए विधिभाग का प्रामाण्य व्यवस्थित हो गया।

अथ अर्थवादभागप्रामाण्याप्रामाण्यविचारः

अर्थवादभागस्य प्रामाण्यं महता प्रयत्नेन जैमिनिः समर्थयामास। तत्सूत्राणि व्याख्यास्यन्ते। तत्र पूर्वपक्षं सूत्रयति—

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते'
(जै० १।२।१) इति।

आम्नायस्य सर्वस्य क्रियाप्रतिपादनाय प्रवृत्तत्वाद् अक्रियाप्रतिपादकानामर्थवादानां नास्ति कश्चित् विवक्षितः स्वार्थः। ते चार्थवादा एवमाम्नायन्ते—'सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' (तै० सं० १।५।१।१); 'स आत्मनो वपामुदखिदत्' (तै० सं० २।१।१।४); 'देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन्' (तै० सं० ६।१।५।१) इति। यस्मादीदृशस्य वाक्यस्य विवक्षितोऽर्थः कश्चिदपि नास्ति तस्मादिदं वाक्यमनित्यमुच्यते। यद्यपि अनादित्वात् स्वरूपेणानित्यत्वं नास्ति, तथापि धर्मावबोधनलक्षणस्य नित्यकार्यस्याभावात् अनित्यैः काव्यालापैः समानत्वात् अप्रमाणमित्यर्थः।

रहता है और अवसर आने पर वह अपना फल देता है। इसी मीमांसकों के 'अपूर्व'को वेदान्ती 'प्रारब्ध कर्म' नैयायिक 'धर्म-अधर्म' वैशेषिक 'अदृष्ट' तथा पौराणिक 'पुण्य और पाप' कहते हैं।

अ०—महर्षि जैमिनि ने ब्राह्मण के अर्थवाद भाग के प्रामाण्य का बड़े प्रयत्न से समर्थन किया है। उन्हीं सूत्रों की व्याख्या करेंगे। उनमें भी पहले पूर्वपक्ष के समर्थक सूत्र हैं। वेद क्रियार्थ है, अतएव वेद का जो भाग क्रियार्थ नहीं है वह अनर्थक है और इसी लिए वह अनित्य है। सभी वेद के क्रिया प्रतिपादन के लिए प्रवृत्त होने के कारण अक्रिया के प्रतिपादक अर्थवादों का कोई विवक्षित स्वार्थ नहीं है। वे अर्थवाद इस प्रकार कहे जाते हैं—'वह रुद्र रोया, जो वह रोया वही रुद्र का रुद्रत्व है'। 'उसने अपनी वपा (हृदय पटल का भीतरी मांस विशेष) को उखाड़ फेंका', 'देवताओं ने देवयज्ञ करके दिशाओं को नहीं जाना'। यतः ऐसे वाक्य का कोई भी विवक्षित अर्थ नहीं है अतः यह वाक्य अनित्य कहा जाता है। यद्यपि अनादि होने के कारण स्वरूप से तो अनित्य नहीं है, तथापि धर्मविबोधनरूप नित्य कार्य के अभाव के कारण अनित्य काव्यालापों के समान होने से यह अप्रमाण है, यह तात्पर्य है।

ननु उदाहृतानामर्थवादानामनुष्ठेये धर्मे प्रामाण्याभावेऽपि स्वार्थे प्रामाण्यमस्तु। तत्प्रत्यायकत्वेन स्वतःप्रामाण्यस्य अपवदितुमशक्यत्वात् इत्याशङ्क्य अन्येषु केषुचिदर्थवादेषु मानान्तरविरोधदर्शनादप्रामाण्ये सति तद्दृष्टान्तेन सर्वेषामपि अर्थवादानामप्रामाण्यमित्यभिप्रेत्य सूत्रयति—

अ०—यदि यह कहें कि जिन अर्थवादों का उदाहरण दिया गया है उनका अनुष्ठेय धर्म में प्रामाण्य का अभाव होने पर भी स्वार्थ में तो प्रामाण्य है ही क्योंकि मात्र उसी (स्वार्थ में प्रामाण्य) के अवबोधक होने के कारण स्वतः प्रामाण्य का निराकरण नहीं किया जा सकता, ऐसी शङ्का करके किन्हीं दूसरे अर्थवादों में, अन्य प्रमाणों का विरोध देखने के कारण, अप्रामाण्य सिद्ध होने पर उसी दृष्टान्त से सभी अर्थवादों का अप्रामाण्य सिद्ध हो जायेगा, इसी अभिप्राय से सूत्र लिखते हैं—

'शास्त्रदृष्टविरोधाच्च' (जै० १।२।२) इति।

शास्त्रविरोधो दृष्टविरोधः शास्त्रदृष्टविरोधः इति त्रिविधो विरोधोऽर्थवादेषूपलभ्यते। तथा हि, 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाक्' इत्यत्र श्रूयमाणं मानसं चौर्यं वाचिकमनृतवदनं च प्रतिषेधशास्त्रेण विरुद्धम्। 'तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः तस्माद् अर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः' (तै० ब्रा० २।१।२) इत्यत्र दृष्टविरोधः। तथा 'न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा वा' (मै० सं० १।४।११) इत्यत्रापि प्रत्यक्षविरोधः। 'को हि तद् वेद यद्यमुष्मिन् लोकेऽस्ति वा न वा' (तै० सं० ६।१।१।१) इत्यत्र शास्त्रदृष्टविरोधः। 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिशास्त्रे हि आमुष्मिकं फलं दृश्यते। तस्मात् विरोधादर्थवादानामप्रामाण्यम्।

अ०—अर्थवादों में शास्त्रविरोध, दृष्टविरोध और शास्त्रदृष्टविरोध ये तीन प्रकार के विरोध पाये जाते हैं। जैसे, 'मन चोर है, वाणी झूठ बोलने वाली है'। इसमें श्रूयमाण मन का चोर होना और वाणी का झूठ बोलना, 'चौर्यं न कर्त्तव्यं, नानृतं वदेत्' इन प्रतिषेध शास्त्रों से विरुद्ध है। यह शास्त्रविरोध का स्पष्टतः उदाहरण है। 'दिन में आग का धुआँ ही देखा जाता है लपट नहीं, रात में आग की लपट ही दिखायी देती है धूम नहीं, इस अर्थवाद में स्पष्टतः दृष्टविरोध है। इसी प्रकार हम लोग यह नहीं समझ पाते कि 'हम ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण' इसमें भी प्रत्यक्ष विरोध दिखायी देता है [क्योंकि हर व्यक्ति यह जानता है कि वह ब्राह्मण है या अब्राह्मण] 'भला यह कौन जानता है कि इस लोक में (स्वर्ग) है भी या नहीं' इसमें शास्त्रदृष्ट विरोध है क्योंकि 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि शास्त्रों में आमुष्मिक फल देखा ही जाता है। उन विरोधों के होने के कारण अ र्वादों का अप्रामाण्य सिद्ध होता है।

ननु 'सोऽरोदीत्' इत्यादीनां निष्प्रयोजनत्वात् 'स्तेनं मनः' इत्यादीनां च विरोधादप्रामाण्येऽपि फलप्रतिपादकानामर्थवादानां तदुभयवैलक्षण्यात् अस्तु प्रामाण्यम् इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'तथा फलाभावात्' (जै० १।२।३) इति।

अ०—यदि यह कहें कि 'सोऽरोदीत्' इत्यादि वाक्यों का निष्प्रयोजन होने के कारण 'स्तेनं मनः' इत्यादि वाक्यों का; विरोध होने के कारण, अप्रामाण्य होने पर भी फल के प्रतिपादक अर्थवाद वाक्यों का इन दोनों से विलक्षण होने के कारण, प्रामाण्य माना जाय, ऐसी शंका करके इस शङ्का का उत्तर देते हैं— तथा फलाभावात्।

तथा मानान्तरविरुद्धमर्थवादैरुक्तं तथा फलमपि अविद्यमानमेव तैरुच्यते। तथा हि, गर्गत्रिरात्र' श्रूयते 'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' (ताण्डय ब्रा० २०।१६।६) इति। दर्शपूर्णमासयोर्वेदाभिमर्शनं प्रकृत्य श्रूयते 'आस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद' (तै० सं० १।७।४।६) इति। न च वयं वेदितॄणां तत्फलमुपलभामहे ?

अ०—जिस प्रकार अर्थवादों के द्वारा अन्य प्रमाणों से विरुद्ध कहा गया है उसी प्रकार अर्थवादों के द्वारा अविद्यमान फल भी कहा जाता है, जैसे, गर्गत्रिरात्र यज्ञ का प्रकरण चलाकर यह सुना जाता है जो 'इस प्रकार जानता है उसका मुख शोभित होता है।' दर्शपूर्णमास याग में वेदाभिमर्शन का प्रकरण चलाकर सुना जाता है जो इस प्रकार जानता है उसकी प्रजा में अन्नवाले उत्पन्न होते हैं किन्तु उन उनको जाननेवालों को वे-वे फल मिलते हैं। ऐसा हम लोग नहीं पाते हैं।

ननु ऐहिकफलवाक्यानां विसंवादात् अप्रामाण्येऽपि आमुष्मिकफल-वाक्यानामस्तु प्रामाण्यमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'अन्यानर्थक्यात्' (जै० १।२।४) इति।

अ०—यदि यह कहें कि ऐहिक फल के प्रतिपादक वाक्यों का, विसंवाद होने के कारण अप्रामाण्य होने पर भी आमुष्मिक फल के प्रतिपादक वाक्यों का तो, प्रामाण्य मानना ही चाहिये, ऐसा शङ्का करके इस शङ्का का उत्तर देते हैं— 'अन्यानर्थक्यात्'।

एवं हि श्रूयते-पूर्णाहुत्या सर्वान्कामानवाप्नोति' (तै० ब्रा० ३।८।१०।५); 'पशुबन्धयाजी सर्वान् लोकानभिजयति'; 'तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' (तै० सं० ५।३।१२।२)। तत्र अग्न्याधेयगतया पूर्णाहुत्या सर्वकामप्राप्तेरन्यानि अग्निहोत्रादीनि उत्तरकालीनानि अनर्थकानि स्युः। तथा निरूढपशुबन्धानुष्ठानेन सर्वलोकाभिजयात् ज्योतिष्टोमादीनामानर्थक्यम्। अध्ययनकालीनेनैव अश्वमेधवेदनेन ब्रह्महत्यादितरणात् तदनुष्ठानं च व्यर्थं स्यात्। तस्मादामुष्मिकफलवाक्यानामपि अप्रामाण्यम्।

अ०—ऐसा सुना जाता है—'पूर्णाहुति से सभी इच्छाओं को प्राप्त करता है' 'पशुबन्ध यज्ञ करने वाला सभी लोकों को जीत लेता है' 'जो अश्वमेध याग करता है, और जो इसे इसप्रकार जानता है, वह मृत्यु को पार कर जाता है, पाप को पार कर जाता है, और ब्रह्महत्या को पार कर जाता है'। ऐसी परिस्थिति में भला, यदि अग्न्याधेय में होने वाली सभी कामों की प्राप्ति हो जाने के कारण बाद में होने वाले दूसरे अग्निहोत्र आदि सुतरां अनर्थक हो जायेंगे। इसी प्रकार निरूढ़ पशुबन्ध याग से ही सभी लोकों पर विजय हो जाने के कारण ज्योतिष्टोम आदि की अनर्थकता सिद्ध ही है और इसीप्रकार अध्ययन काल में अश्वमेध याग के ज्ञान होने से ही ब्रह्महत्या आदि से पार हो जाने के कारण अश्वमेध का अनुष्ठान सर्वथा व्यर्थ हो जायेगा। अतः आमुष्मिक फल के प्रतिपादक वाक्यों का भो अप्रामाण्य सिद्ध होता है।

ननु मा भूत् फलवाक्यानां प्रामाण्यम्, तथापि निषेधवाक्येषु विरोधानुपलम्भादस्तु प्रामाण्यमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'अभागिप्रतिषेधात्' (जै० १।२।५) इति।

अ०—यदि यह कहें कि फल प्रतिपादक वाक्यों का प्रामाण्य नहीं है, तो ठीक है, न हो तो भी निषेध वाक्यों में तो विरोध के न मिलने से उनका प्रामाण्य मानना चाहिये, ऐसी शङ्का करके इसका उत्तर देते हैं—अभागि प्रतिषेधात्।

'न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि' (तै० सं० ५।२।७।१) इत्यत्र अन्तरिक्षस्य च दिवश्च प्रतिषेधभागित्वं नास्ति, तत्र चयनप्रसङ्ग-स्यैव अभावात् ।

मा भूत्तर्हि निषेधानां प्रामाण्यम् । 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' (तै० सं० ७।१।१०।२) इत्यादीनां पूर्वपुरुषवृत्तान्ताभिधायिनां विरोधानुपलम्भा-दस्तु प्रामाण्यमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'अनित्यसंयोगात्' (जै० १।२।६) इति ।

अ०—'न तो पृथ्वी पर अग्निचयन करना चाहिये, न अन्तरिक्ष में, न द्युलोक में' । यहाँ अन्तरिक्ष और द्युलोक में अग्निचयन का प्रतिषेध व्यर्थ प्रतीत होता है क्योंकि इन दोनों स्थानों में अग्निचयन का प्रसङ्ग उपस्थित ही नहीं होता । ठीक है, निषेध वाक्यों का प्रामाण्य नहीं है तो न हो किन्तु पूर्वपुरुष के वृत्तान्त को कहने वाले 'बबरः प्रावहणिरकामयत' इत्यादि वाक्यों का, विरोध न होने के कारण प्रामाण्य मानना चाहिये, ऐसी शङ्का करके इसका उत्तर देते हैं...'अनित्यसंयोगात्' ।

बबरादिरूपेण अनित्येनार्थेन संयोगे सति अस्य वाक्यस्य ततः पूर्वम-भावात् कालिदासादिवाक्यवत् पौरुषेयत्वं प्रसज्येत ।

अ०—बबर आदि रूप अनित्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध होने के कारण इस वाक्य का उससे (अनित्यपदार्थों से) पूर्व अभाव होने के कारण कालिदास आदि के वाक्यों की तरह पौरुषयत्व का प्रसंग आ जाने की सम्भावना है ।

किं वहुना ? सर्वथापि नास्त्येव अर्थवादानां प्रामाण्यम् इति पूर्वपक्षः ।

अ०—और क्या कहें ? सभी तरह से अर्थवाद वाक्यों का प्रामाण्य नहीं है, यह पूर्वपक्ष है ।

सिद्धान्तं सूत्रयति—

'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (जै० १।२।७)

तुशब्दोऽर्थवादानामप्रामाण्यं वारयति । 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' इत्येवमादी-नामर्थवादानां 'वायव्यं श्वेतमालभेत' (जै० सं० २।१।१।१) इत्यादिना विधिना सह एकवाक्यत्वाद् अस्ति धर्मे प्रामाण्यम् । न च विधिवाक्यस्य अर्थवादनै-रपेक्ष्येण पदान्वयसम्पूर्ते अर्थवादानां नास्ति उपयोग इति शङ्कनीयम् । ते हि अर्थवादाः पुरुषप्रवृत्तिमाकाङ्क्षतां विधीनां स्तुत्यर्थत्वेनोपयुक्ताः स्युः । स्तुत्या च प्रलोभितः पुरुषः तत्र प्रवर्तते ।

अ०—सिद्धान्त पक्ष (अर्थवादों का प्रामाण्य है) का समर्थन करने के लिए सूत्र लिखते हैं—'विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता होने के कारण विधिवाक्यों की

स्तुति करने के लिए अर्थवाद वाक्य हैं, ऐसा समझना चाहिये'। 'तु' शब्द अर्थवाद वाक्यों के अप्रामाण्य का वारण करता है। 'वायुर्वैक्षेपिष्ठा' इत्यादि अर्थवाद वाक्यों का 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इत्यादि विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता होने के कारण, इनका धर्म [याग] में प्रामाण्य है। ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये कि अर्थवाद वाक्यों की अपेक्षा न रखते हुए भी विधिवाक्यों की पदान्वय सम्पूर्ति हो जाती है, अतः वहाँ अर्थवाद वाक्यों का कोई उपयोग नहीं है। वे अर्थवाद वाक्य, निश्चय ही, पुरुष की प्रवृत्ति की कामना रखने वाले विधिवाक्यों की स्तुति करने के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं [होंगे]। प्रशंसा से लुब्ध होकर पुरुष उनमें (विधिवाक्य प्रतिपादित कार्य में) प्रवृत्त होता है।

ननु अर्थवादानां प्रमादपठितत्वेन उपेक्षणीयत्वात् किमनेन एकवाक्यताप्रयासेन इत्याशङ्क्याह—

'तुल्यं च सांप्रदायिकम्' (जै० १।२।८) इति।

अ०—प्रमादपठित होने के कारण अर्थवाद वाक्य उपेक्षणीय हैं, अतः इस एक वाक्यता के प्रयास से क्या प्रयोजन ? ऐसी शङ्का करके इसका उत्तर देते हैं—तुल्यं च साम्प्रदायिकम्।

अनध्यायवर्जनादिनियमपुरःसरं गुरुसम्प्रदायादध्ययनं यत् तत् साम्प्रदायिकम्। तच्च विधीनामर्थवादानां च समानम्। तस्मात् विधिवदेतेषामपि प्रसादपाठो न भवति।

अ०—अनध्यायवर्जन आदि नियम के साथ-साथ जो गुरुसम्प्रदाय से अध्ययन होता है उसे साम्प्रदायिक (अध्ययन) कहते हैं और वह अध्ययन जैसे विधिवाक्यों का होता है उसीप्रकार अर्थवाद वाक्यों का भी होता है। अतः विधिवाक्यों की तरह इन अर्थवाक्यों का भी प्रमादपाठ नहीं होता है।

ननु शास्त्रदृष्टविरोधाच्च इत्येवमर्थवादेषु अनुपपत्तिरुक्ता इत्याशङ्क्य-आह—

'अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधः स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत' (जै० १।२।९) इति।

अ०—'शास्त्रदृष्टविरोधाच्च', इस प्रकार की जो अर्थवाद वाक्यों में अनुपपत्ति कही गयी है (उनका क्या होगा ?), ऐसी शङ्का करके कहते हैं—अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधः स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत'। अर्थात् अनुपपत्ति अप्राप्त है, प्रयोग होने पर ही विरोध सम्भव है। शब्दार्थ तो प्रयोग भूत नहीं है, अतः अर्थवाद वाक्य उपपन्न हो सकते हैं।

"स्तेनं मनः" इत्यादौ शास्त्रविरोधाद्यनुपपत्तिरप्राप्ता, प्रयोगस्य अनुक्तत्वात्। प्रयोगे हि स्तेयादीनाम् उच्यमाने शास्त्रविरोधः स्यात्। न चात्र स्तेयं कर्तव्यमिति प्रयोग उच्यते, किंतु स्तेयशब्दार्थ एव उच्यते। न च स्तेयशब्दार्थः प्रयोगभूतः। तस्मात् शब्दार्थवचनमात्रेण शास्त्राविरोधाभावादयमर्थवादः उपपन्नः एव।

अ०—प्रयोग के अनुक्त होने के कारण 'स्तेनं मनः' इत्यादि में शास्त्रविरोध आदि जो अनुपपत्ति बतायी गयी है, वह प्राप्त ही नहीं होती। यदि स्तेय आदि का प्रयोग कहा जाता तो शास्त्रविरोध होता, यहाँ तो 'स्तेयं कर्तव्यम्' यह प्रयोग कहा नहीं जाता है, प्रत्युत केवल स्तेय शब्दार्थ ही कहा जाता है और स्तेय शब्दार्थ प्रयोगभूत है नहीं। अतः शब्दार्थ वचन मात्र से शास्त्रविरोध के अभाव होने के कारण अर्थवाद उपपन्न ही होता है।

ननु 'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इति यदुक्तं तदसत्, वैयधिकरण्यात्। 'वेतसशाखया चावकाभिश्चाग्निं विकर्षत्यापो वै शान्ताः' (तै० सं० ५।४।४।३) इत्यत्र वेतसावके विधीयेते आपश्च स्तूयन्ते इति वैयधिकरण्यमित्याशङ्क्याह—

'गुणवादस्तु' (जै० १।२।१०) इति।

अ०—'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' यह जो प्रथम सूत्र में कहा गया है, वह ठीक नहीं है क्योंकि विधिवाक्य और अर्थवाद वाक्यों में एकाधिकरण नहीं होता है। 'वेतस् (वेंत) शाखा से और अवका (शैवाल-अवका) से अग्नि नामक स्थण्डिल का विकर्षण करें'। इस विधिवाक्य में वेतस् शाखा और शैवाल का तो विधान किया गया और जलों की स्तुति की गयी है (विधान दूसरे का और स्तुति दूसरे की, अतः वैयधिकरण्य या एकाधिकरण का अभाव है), ऐसी शङ्का करके इसका उत्तर देते हैं—'गुणवादस्तु'।

'तु' शब्दो वैयधिकरण्यदोषं वारयति। गुणवादो-ह्यत्र विवक्षितः। यथा लोके कश्मीराभिजनो देवदत्तः कश्मीरदेशेषु स्तूयमानेषु स्तुतमात्मानं मन्यते, एवमत्रापि अद्भ्यो जाते वेतसावके अप्सु स्तुतासु स्तुते एव भवतः। शान्ताभ्योऽद्भ्यो जातत्वात् वेतसावके स्वयमपि शान्ते सत्यौ यजमानस्यानिष्टं शमयतः इत्येतादृशस्य गुणस्य वादोऽत्र अभिप्रेतः।

अ०—'तु' शब्द वैयधिकरण्य दोष का वारण करता है। यहाँ गुणवाद विवक्षित है जैसे—लोक में कश्मीर देश का रहने वाला देवदत्त कश्मीर देश की स्तुति की जाने पर अपने आपको स्तुत मानता है। इसीप्रकार यहाँ भी जल से उत्पन्न वेतस और अवका, जलों की स्तुति की जाने पर, अपने आप को स्तुत मानते हैं।

शान्त जलों से उत्पन्न होने के कारण वेतस और अवका स्वयं भी शान्त होते हुए यजमान के अनिष्ट को शान्त करते हैं, इस प्रकार के गुण का वाद [कथन] यहाँ अभिप्रेत है।

'सोऽरोदीत्' इत्यत्रापि रजतस्य पतिताश्रुरूपत्वाद् रजतदाने गृहेऽपि रोदनप्रसङ्गाद् 'बर्हिषि रजतं न देयम्' (तै० सं० १।५।१।२) इति तन्निषेधेन विधेयेनार्थवादस्यैकवाक्यत्वम्। तत्र रजतदानाभावे रोदनाभावरूपो गुणोऽत्र विवक्षितः। तेन च गुणेन रजतदाननिवारणरूपो विधिः स्तूयते। यद्यपि रजतस्य अश्रुप्रभवत्वमत्यन्तमसत् तथापि यथोक्तरीत्या विधेः स्तुतिः सम्पद्यते।

अ०—'सोऽरोदीत्' यहाँ भी रजत के गिरते हुए आँसुओं के रूप का होने के कारण रजत दान करने पर घर में भी रोदन का प्रसंग होने से 'बर्हिषि रजतं न देयम्' इस निषेधात्मक विधिवाक्य के साथ अर्थवाद वाक्य की एकवाक्यता होती है। उस एकवाक्यता के प्रसंग में रजतदान के अभाव में रोदन के अभाव रूप गुण की विवक्षा यहाँ है। और उस गुण से रजतदान निवारण रूप विधि की स्तुति होती है यद्यपि यह भी सही है कि रजत का अश्रु से उत्पन्न होना अत्यन्त असत् (झूठा) है। तथापि ऊपर बतायी गयी रीति से विधिवाक्य की स्तुति सम्पन्न होती है।

'यः प्रजाकामः पशुकामः स्यात् स एतं प्राजापत्यमजं तूपरमालभेत' (तै० सं० २।१।१।४, ५) इत्ययं विधिः प्रजापतिवपोत्खेदेन स्तूयते। यस्मात् प्रजापतिः स्ववपामपि उत्खिद्य अग्नौ प्रहृत्य ततो जातं तूपरम् अजम् आत्मार्थम् आलभ्य प्रजाः पशूँश्च लब्धवान् तस्मात् प्रजादिसम्पादकोऽयं तूपरः इति तूपरगुणस्य वादोऽत्र विवक्षितः।

अ०—'जो प्रजा की कामना करे पशु की कामना करे, वह प्रजापतिदेवताक श्रृङ्गविहीन अज (बकरे) का आलभन करे' यह विधिवाक्य है। इस विधिवाक्य की 'स आत्मनो वपामुदखिदत्' इस अर्थवाद वाक्य द्वारा स्तुति की गयी है। यतः प्रजापति ने अपनी वपा को फाड़ कर अग्नि में हवन कर उससे (अग्नि से) उत्पन्न श्रृङ्गविहीन बकरे को अपने लिए आलभन कर प्रजाओं और पशुओं को पाया, अतएव प्रजा आदि का सम्पादक यह श्रृङ्गविहीन अज है, ऐसा तूपरगुण का कथन यहाँ विवक्षित है।

'आदित्यः प्रायणीयश्चरुः' (तै० सं० ६।१।५।१) इत्येष विधिः 'दिशो न प्राजानन्' इत्यनेन दिङ्मोहेन स्तूयते। यथेयम् अदितिर्देवता दिङ्-मोहमपि अपनीय दिग्विशेषं ज्ञापयति, तथा बहुविधकर्मसमुदायरूपे सोम-

यागे अनुष्ठानविषयं भ्रममपनयतीति किमु वक्तव्यमित्येवमदितिदेवतागतस्य गुणस्य वादोऽत्र विवक्षितः। स्वकीयवपोत्खेदो देवयजनाध्यवसानमात्रेण दिङ्मोहश्च इत्युभयमस्तु वा मा वा, सर्वथापि स्तुतिपरत्वम् अभ्युपगच्छताम् अस्माकम् न किञ्चिद् हीयते। 'शिखा ते वर्धते वत्स गुडूचीं श्रद्धया पिब' इत्यादौ अविद्यमानेनापि अर्थे न लोके स्तुतिदर्शनात्।

अ०—'आदित्यः प्रायणीयश्चरुः' यह विधिवाक्य है। और 'दिशो न प्रजानन्' इस अर्थवाद वाक्य में दिङ्मोह के कथन के द्वारा उसकी स्तुति की गयी है। जिसप्रकार यह अदिति देवता दिङ्मोह को भी हटाकर दिग्विशेष को बताती है उसीप्रकार अनेक प्रकार के कर्मों के समुदायरूप सोमयाग में अनुष्ठान विषयक भ्रम को हटाती है, इसमें क्या कहना है। इसप्रकार अदिति देवता में विद्यमान गुणों का कथन यहाँ विवक्षित है। प्रजापति ने अपनी वपा का उत्खेद (उखाड़ फेंकना) किया हो या न किया हो तथा देवयज्ञ के अनुष्ठान मात्र से दिङ्मोह हुआ हो या न हुआ हो सर्वथा ही (अर्थवाद वाक्यों का) स्तुतिपरक होना समझने वाले हम लोगों का कुछ भी नहीं बिगड़ता क्योंकि 'हे वत्स, तुम्हारी शिखा बढ़ेगी, श्रद्धा से गुडूची पियो', इत्यादि स्थलों में अविद्यमान अर्थों से भी लोक में प्रशंसा की ही जाती है।

अथ पूर्वपक्षिणा शास्त्रविरोधं दर्शयितुं यदुदाहृतं 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाग्' इति तत्रोत्तरं सूत्रयति—

'रूपात् प्रायात्' (जै० १।२।११) इति।

अ०—अब पूर्वपक्षी के द्वारा शास्त्रविरोध को प्रदर्शित करने के लिए 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाग्' यह जो उदाहरण दिया गया है, उसका उत्तर देने के लिए सूत्र लिखते हैं—रूपात् प्रायात्।

'हिरण्यं हस्ते भवति अथ गृभ्णाति' (मै० सं० ४।८।२।३) इत्येतं विधिं स्तोतुमयमर्थवाद उच्यते। यथा लोके 'किमृषिणा देवदत्त एव पूजयितव्यः' इत्यत्र देवदत्तपूजां स्तोतुमेव औदासीन्यमृषौ उपन्यस्यते, न तु पूज्यत्वमृषेर्वारयितुम्, एवमत्रापि हस्ते हिरण्यग्रहणं प्रशंसितुं मनसः स्तेनरूपत्वं वाचोऽनृतवादित्वं चोपन्यस्यते। तत्र गुणवादेन शब्दार्थो योजनीयः। यथा स्तेनाः प्रच्छन्नरूपा एवं मनोऽपीति प्रच्छन्नरूपत्वमत्र गुणः। प्रायेण वागनृतं वक्ति इति प्रायिकत्वं तत्र गुणः। हस्तस्तु न प्रच्छन्नो नापि अनृतबहुलः। अतोहस्ते हिरण्यधारणं प्रशस्तमिति स्तूयते।

अ०—'हिरण्य हाथ में होता है, तब ग्रहण करता है' इस विधिवाक्य की स्तुति करने के लिए यह अर्थवाद वाक्य कहा जाता है। जैसे, 'लोक में क्या ऋषि

के द्वारा देवदत्त की ही पूजा करनी चाहिए ?' इस वाक्य में देवदत्त की पूजा की स्तुति करने के लिए ही ऋषि में उदासीनता उपन्यस्त की गयी है न कि ऋषि की पूज्यता के निवारण के लिए। इसी प्रकार यहाँ भी हाथ में हिरण्य ग्रहण की प्रशंसा करने के लिए ही मन का स्तेन रूप होना और वाणी का अनृतवादिनी होना उपन्यस्त किया गया है। वहाँ (जहाँ उपन्यास किया गया है) गुणवाद से ही शब्दार्थ की योजना करनी चाहिए, जैसे चोर छिपे हुए रहते हैं उसी प्रकार मन भी रहता है। यहाँ प्रच्छन्नरूपत्व (छिपे हुए रहना) गुण है। प्रायः वाणी झूठ बोलती है इसलिए यहाँ प्रायिकत्व गुण है। हाथ तो न छिपा रहता है, न अधिक झूठ बोलता है। अतः हाथ में हिरण्य धारण प्रशस्त है, ऐसी स्तुति की जाती है।

यदपि दृष्टविरोधाय 'धूम एव अग्नेर्दिवा ददृशे' इत्यादिकमुदाहृतं तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'दूरभूयस्त्वात्' (जै० १।२।१२)।

अ०—दृष्ट विरोध के लिए 'धूम एव अग्निर्दिवा ददृशे' इत्यादि जो उदारण दिये गये हैं, उस प्रसङ्ग में उत्तर देने के लिए सूत्र लिखते हैं—दूरभूयस्त्वात्।

'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति, सूर्योज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातः' इत्येतौ विधी (ऐ० ब्रा० ५।५।६) स्तोतुं सोऽर्थवादः। यस्मात् अर्चिर्दिवा न दृश्यते तस्मात् सूर्यमन्त्र एव प्रातः प्रयोक्तव्यः। यस्मात् रात्रावर्चिरेव दृश्यते तस्मादग्निमन्त्रो रात्रौ प्रयोक्तव्यः सूर्यमन्त्रश्च दिवा। इत्येवं तयोर्मन्त्रयोः स्तुतिः। धूमार्चिषोरदर्शनोपन्यासस्तु दूर-भूयस्त्वगुणनिमित्तः। भूयसि हि दूरे पर्वताग्रे वृक्षादयोऽपि न विस्पष्टं दृश्यन्ते, किंतु तृणसादृश्येन तेषां दर्शनाभास एव। तद्वद् अत्रापि।

अ०—वह अर्थवाद तो 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा इति सायं जुहोति, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा इति प्रातः,' इन दोनों विधियों की स्तुति करने के लिए है। यतः अग्नि की लपट दिन में नहीं देखी जाती अतः सूर्यमन्त्र का ही प्रातः प्रयोग करना चाहिये। और यतः रात में आग की लपट दिखायी देती है अतः अग्निमन्त्र का रात में ही प्रयोग करना चाहिये। और सूर्यमंत्र का दिन में। इस प्रकार उन दोनों मन्त्रों की स्तुति है। धूम और लपट के अदर्शन का उपन्यास तो दूरभूयस्त्व (अत्यन्त दूर का) होना गुणनिमित्तक ही है। अत्यन्त दूर पर्वत के अग्र भाग में वृक्ष आदि भी स्पष्ट नहीं दिखायी देते हैं, किन्तु तृण की समानता होने के कारण उनका दर्शनाभास ही होता है। उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए।

यदप्यन्यद् दृष्टविरोधाय उदाहृत 'न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा वा' इति तत्रोत्तरं सूत्रयति—

'स्त्र्यपराधात् कर्त्तश्च पुत्रदर्शनात्' (जै० १।२।१३) इति।

अ०—जो यह दूसरा 'न चैतद्विद्मो.....' दृष्टविरोध के लिए उदाहरण दिया गया है उसका उत्तर देने के लिए सूत्र लिखते हैं—स्त्र्यपराधात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनात्। अर्थात् स्त्री के अपराध हो जाने पर जार का भी पुत्र दिखलायी देता है।

'प्रवरे प्रव्रियमाणे ब्रूयाद् देवाः पितरः' (मै० सं० १।४।११) इत्यस्य विधेः स्तावकोऽयमर्थवादः। यदि यजमानो 'देवाः पितरः' (तै० ब्रा० ३।७।५।४) इत्यादिमन्त्रेण प्रवरमनुमन्त्रयेत् तदानीमब्राह्मणोऽपि ब्राह्मणो भवेदिति अनुमन्त्रणस्य स्तुतिः। 'न चैतद् विद्मः' इत्येतदज्ञानवचनं दुर्ज्ञानत्वगुणेन तत्र प्रयुज्यते। यत्र स्त्रिया अपराधो भवति तत्र कर्त्तुरुत्पादयितुर्जारस्यापि पुत्रो दृश्यते। अतः पत्युपपत्योरुभयोः पुत्रदर्शनात् स्वकीयजन्म कीदृशमिति दुर्ज्ञानम्। अनेनाभिप्रायेण प्रयुक्तत्वात् नास्ति तत्र दृष्टविरोधः। न हि तत्र दृश्यमानं स्वब्राह्मण्यमपवदितुं 'न चैतद् विद्मः' इत्युपन्यस्तम्।

अ०—'जब अध्वर्यु यजमान के प्रवरों (मूल ऋषियों) का नाम ले तब यजमान 'देवाः पितरः' ऐसा कहे 'इस विधि वाक्य की स्तुति करने वाला यह (न चैतद्विद्मः.....) अर्थवाद वाक्य है। जब यजमान 'देवाः पितरः' इत्यादि मन्त्र से प्रवर का अनुमन्त्रण (उच्चारण) करे, उस समय वह अब्राह्मण होने पर भी ब्राह्मण हो जाय, यह अनुमन्त्रण की स्तुति है। 'न चैतद्विद्मः' यह अज्ञान वचन दुर्ज्ञानत्व गुण से वहाँ प्रयुक्त किया जाता है। जहाँ स्त्री का अपराध होता है वहाँ उत्पादयिता जार का भी पुत्र देखा जाता है। अतः पति और उपपति इन दोनों से पुत्रोत्पत्ति सम्भव होने के कारण अपना जन्म कैसा है यही दुर्ज्ञान है। इस अभिप्राय से प्रयुक्त होने के कारण वहाँ दृष्ट विरोध नहीं है। यह मानना ठीक नहीं है कि प्रत्यक्ष अपने ब्राह्मणत्व का निराकरण करने के लिए 'न चैतद्विद्मः' का उपन्यास हुआ है।

यदपि शास्त्रीयदर्शनविरोधाय उदाहृतं 'को हि तद् वेद यद्यमुष्मिँल्लोकेऽस्ति वा न वा' इति तत्रोत्तरं सूत्रयति—

'आकालिकेप्सा' (जै० १।२।१४) इति।

अ०—जो यह शास्त्रीय दर्शन विरोध के लिए 'को हि तद्वेद...' यह उदाहरण दिया गया है उसका उत्तर देने के लिए सूत्र लिखते हैं 'आकालिकेप्सा'।

'दिक्ष्वतीकाशान् करोति' (तै० सं० ६।१।१।१) इति प्राचीनवंशस्य

द्वारविधिः । तस्य शेषोऽयं 'को हि तद् वेद' इति । धूमाद्युपद्रवपरिवारेण प्रत्यक्षेण फलेन द्वारविधिः स्तूयते । स्वर्गप्राप्तिरूपं तु फलमाकालिकं । अकाले भवमाकालिकं विप्रकृष्टकालीनं, न तु इदानीन्तनमित्यर्थः तस्य ईप्सा प्राप्तुमिच्छा । सा च 'को हि तद् वेद' इति अनिश्चयोपन्यासे कारणम् । यथा भाविकालीनः पौत्रप्रपौत्रादिवृत्तान्तो निश्चेतुं न शक्यते, तद्वत् स्वर्गप्राप्तिर्भाविकालीनेति गुणयोगादनिश्चयोपन्यासः । धूमादिपरिहारस्तु प्रत्यक्षत्वात् निश्चित इत्यभिप्रायः ।

अ०--'दिक्ष्वतीकाशान् करोति' यह प्राचीन वंश की द्वारविधि है, उसीका यह 'को हि तद्वेद' यह शेष है (स्तुति करने वाला है) । धूम आदि उपद्रवों के परिहार रूप प्रत्यक्षफल के द्वारा द्वारविधि की स्तुति की जाती है । स्वर्गप्राप्ति-रूप फल तो आकालिक है । आकालिक का अर्थ है अकाल में होने वाला । अर्थात् अधिक दिनों बाद होने वाला न कि तत्काल होने वाला है । उसकी ईप्सा अर्थात् प्राप्त करने की इच्छा और वही 'को हि तद्वेद' में प्रतिपादित अनिश्चय के उपन्यास में कारण है । जिसप्रकार भविष्यत् में होने वाले पौत्र प्रपौत्रादि के वृत्तान्त का निश्चय नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार स्वर्ग की प्राप्ति भविष्यत् में होने वाली है, इसी गुण के कारण अर्थवाद वाक्य में अनिश्चय का उपन्यास किया गया है । धूम आदि का परिहार तो प्रत्यक्ष होने के कारण निश्चित ही है । यही अभिप्राय है ।

यदप्यन्यद् दृष्टविरोधाय उदाहृतं 'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' (ता० म० ब्रा० २०।१६।६) इति, तत्रोत्तरं सूत्रयति—

'विद्याप्रशंसा' (जै० १।२।१५) इति ।

अ०—जो यह दृष्टविरोध के लिए 'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' उदाहरण दिया गया है, उसके उत्तर के लिए सूत्र लिखते हैं 'विद्याप्रशंसा' ।

सोऽयं गर्गत्रिरात्रविधेः शेषः । तद्विषयं वेदनमपि मुखशोभाहेतुः, किमुत अनुष्ठानमिति स्तूयते । यथा कर्णाभरणादिना मुखं शोभितं भवति, एवं वेदितुरुत्साहेन विकसितं वदनं शोभितमिव शिष्यैरुद्वीक्ष्यते अतः शोभा-सादृश्यगुणयोगात् 'शोभते' इत्युच्यते ।

अ०—'शोभतेऽस्य—यह अर्थवाद वाक्य गर्गत्रिरात्रविधि का शेष है (स्तुति करने वाला है) । तद्विषयक ज्ञान भी मुख शोभा का हेतु है, भला अनुष्ठान का क्या कहना, यह स्तुति की गयी है । जिसप्रकार कर्णभूषण आदि से मुख शोभित होता है, उसीप्रकार जानने वाले का उत्साह से, विकसित वदन शोभित की भांति

शिष्यों द्वारा देखा जाता है। इसलिए शोभा के सादृश्यगुण के सम्बन्ध के कारण 'शोभते.....' यह अर्थवाद वाक्य कहा जाता है।

यदप्यन्यद् विरोधाय उदाहृतम् 'आस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद' सोऽपि वेदानुमन्त्रणविधेः शेषः। अत्रापि कैमुतिकन्यायेन स्तुतिः पूर्ववद् योजनीया। वेदितुः पुत्रः पितृशिक्षया स्वयमपि विद्वान् भवति। ततः प्रतिग्रहेण अन्नं प्राप्नोति। तस्मादीदृशं गुणमभिप्रेत्य 'वाजी जायते' इत्युक्तम्।

अ०—जो यह दूसरा 'आस्य प्रजायां—' यह विरोध के लिए उदाहरण दिया गया है वह भी वेदानुमन्त्रण विधि का शेष है। यहाँ भी कैमुतिकन्याय[1] से पहले की भाँति स्तुति की योजना कर लेनी चाहिए। जानने वाले का पुत्र पिता की शिक्षा से स्वयं भी विद्वान् हो जाता है और बाद में प्रतिग्रह से अन्न प्राप्त करता है। अतः इस प्रकार के गुण के अभिप्राय से 'वाजी जायते' ऐसा कहा गया है।

यदप्यन्यानर्थक्याय उदाहृतं 'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति' इति तत्रोत्तरं सूत्रयति—

'सर्वत्वमाधिकारिकम्' (जै० १।२।१६)।

अ०—जो भी उत्तरकालीन अग्निहोत्र आदि अन्य कर्मों के आनर्थक्य को दिखाने के लिए "पूर्णाहुत्या—" यह कहा गया है उसके उत्तर के लिए सूत्र लिखते हैं—सर्वत्वमाधिकारिकम्।

'पूर्णाहुतिं जुहुयाद्' इत्यस्य विधेः शेषोऽयम्। सर्वकामावाप्तिहेतुत्वात् प्रशस्तेयमाहुतिरिति स्तूयते। यथा सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इत्यत्र सर्वत्वं स्वगृहागतब्राह्मणविषयम्। एवं पूर्णाहुत्या कर्मसाङ्गत्वे यत् फलं तस्मिन् अधिकारे प्रस्तावे सम्भावितं तद्विषयमेव सर्वत्वं द्रष्टव्यम्। पूर्णाहुतेरभावे सति आधानरूपं कर्म अङ्गविकलं भवति। तच्च वैकल्यं पूर्णाहुत्या समाधीयते इत्येकः कामः। तस्मिन् समाहिते सति आहवनीयाद्यग्नयोऽग्निहोत्रादिकर्मसु योग्या भवन्ति। इत्ययमन्यः कामः। तैश्च कर्मभिस्तत्तत्फलं प्राप्यते इति कामान्तरम्। ईदृशी सर्वकामावाप्तिराहुत्यन्तरेष्वपि विद्यते

---

१. जहाँ छोटे कारण से ही सिद्धि दिखायी जाय वहाँ बड़े कारण से सिद्धि अपने आप मान ली जाती है ऐसे स्थल पर संस्कृत के वाक्यों में 'किमुत' का प्रयोग होता है। जैसे-वेदनेनैव वाजी जायते किमुत अनुष्ठानेन। अर्थात् मात्र ज्ञान से ही अन्न वाला हो जाता है, भला अनुष्ठान का क्या कहना। कैमुतिक न्याय का यही अभिप्राय है।

इति चेत् विद्यतां नाम किं नश्छिन्नम् । न खल्वेतावता पूर्णाहुतिस्तुतेः काचिद् हानिः अस्ति ।

अ०—''पूर्णाहुति····'' इस विधि का यह शेष है । सभी कामनाओं की अवाप्ति का हेतु होने के कारण यह आहुति प्रशस्त है, ऐसी स्तुति की जाती है । जिस प्रकार 'सर्वे ब्राह्मणाः भोजयितव्याः' इस कथन से 'सर्वे' का अर्थ अपने घर आये हुए ब्राह्मण मात्र हैं । इसी प्रकार पूर्णाहुति से कर्म की सर्वाङ्गता होने पर जो फल होता है उसी के अधिकार के प्रस्ताव में सम्भावित तद्विषयक ही 'सर्व' अर्थ समझना चाहिये पूर्णाहुति के अभाव में आधान रूप कर्म अङ्गविकल (अपूर्ण) हो जाता है । वह अङ्गविकलता पूर्णाहुति के द्वारा सम्पन्न कर दी जाती है, यह एक कामना हुयी । उसके संपन्न कर लिये जाने पर आहवनीय आदि अग्नियां अग्निहोत्र आदि कर्मों में, उपयुक्त हो जाती हैं । यह दूसरी कामना है और उनकर्मों से उन-उन फलों की प्राप्ति होती है, यह कामनान्तर हुआ । यदि यह कहें कि इस प्रकार की सभी कामनाओं की प्राप्ति तो, दूसरी आहुतियों के करने पर भी है ही, तो हो कोई चिन्ता नहीं । इससे भला हम लोगों का क्या विगड़ जाता है इतने से ही भला पूर्णाहुति की स्तुति की कोई हानि तो है नहीं ।

ननु पूर्णाहुतेरङ्गभावत्वात् तदीयफलश्रुतेरर्थवादत्वेन स्तावकत्वं भवतु, 'द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः' (जैं० ४।३।१) इति सूत्रेण निर्णीतत्वात् । पशुबन्धवाक्यस्य तु कर्मविधायकत्वात् सर्वलोकाभिजयस्य मुख्यफलत्वाद् अन्यानर्थक्यं दुर्वारम् इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः सारतो वा फलविशेषः स्यात्' (जै० १।२।१७) इति ।

अ०—यतः जैमिनि मुनि ने 'द्रव्यसंस्कारकर्मसु····' (द्रव्य संस्कार और कर्मों में, परार्थ (क्रत्वर्थ) होने के कारण उनमें जो फलश्रुति है वह अर्थवाद मात्र हैं) सूत्र से अर्थवाद वाक्य का निर्णय किया है, अतः पूर्णाहुति के अङ्गकर्म होने से उसकी फलश्रुति भी अर्थवाद के रूप में मानी जायगी और वह विधि वाक्य की स्तुति करने वाली होगी । किन्तु पशुबन्ध वाक्य का तो, मुख्य कर्म के कारण उत्तर कालीन दूसरी विधियों की अनर्थकता दुर्निवार होगी, ऐसी शङ्का करके उत्तर देने के लिए सूत्र लिखते हैं—फलस्य कर्मनिष्पत्ते····।

पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकेषु अन्यतमलोकाभिजयरूपं फलं पशुबन्धकर्मणा निष्पाद्यते । तेषां च पृथिव्यादीनां फलानां कर्मान्तरेण परिमाणाधिक्यं सारत्वं व सम्पद्यते । ततः फलविशेषः स्यादिति नास्ति आनर्थक्यम् । लोकवत् इत्युक्तार्थे दृष्टान्तः । यथा लोके निष्केण खारीपरिमितान् व्रीहीन्

विक्रीय निष्कान्तरेण पुनः क्रये सति परिमाणाधिक्यं भवति; यथा वा निष्केण वस्त्रमात्रं लभ्यते निष्कद्वयेन तु सारभूतं दुकूलम्। तथा भोगाधिक्यं भोगसारत्वं वा कर्मान्तिरेण द्रष्टव्यम्। ब्रह्महत्याया अपि मानस्याः स्वल्पाया वेदनमात्रेण तरणम्। कायिक्यास्तु महत्या अश्वमेधेन, इति नास्ति अन्यानर्थक्यम्।

अ०—पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यु लोकों में से अन्यतम लोकाभिजय रूप फल पशुबन्ध कर्म से निष्पन्न होता है। अन्य कर्म से उन पृथ्वी आदि फलों के परिमाण की अधिकता अथवा उनका सारत्व सम्पादित किया जाता है। अतः फलविशेष हो जाता है उसमें उनका आनर्थक्य नहीं होता है। उपर्युक्त बात सिद्ध करने के लिए लोक से दृष्टान्त दिया गया है—जैसे, लोक में एक निष्क (मुद्रा विशेष) से खारी (परिमाण विशेष) परिमित धान्य (अन्न) खरीद कर पुनः दूसरे निष्क से खरीदने पर परिमाण में अधिकता होती ही है अथवा जैसे एक निष्क से साधारण वस्त्रमात्र मिलता है किन्तु दो निष्कों से सारभूत सुन्दर वस्त्र मिल जाता है वैसे ही भोग की अधिकता अथवा भोग की सारता अन्य कर्मों से समझनी चाहिये। थोड़ी मानसिक ब्रह्महत्या को भी (अश्वमेध के) ज्ञान मात्र से पार कर लिया जाता है किन्तु बड़ी शारीरिक ब्रह्महत्या को तो अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान से ही पार किया जा सकता है अतः अन्य कर्मों का आनर्थक्य नहीं है।

योऽपि 'नान्तरिक्षे न दिवि' इत्यप्रसक्तप्रतिषेध उदाहृतस्तथा 'बबरः प्रावाहणिः' इत्यनित्यसंयोग उदाहृतस्तत्र उभयत्रोत्तरं सूत्रयति—

'अन्त्ययोर्यथोक्तम्' (जै० १।२।१८) इति।

अ०—'नान्तरिक्षे न दिवि' इस अप्रसक्तप्रतिषेध के तथा 'बबर प्रावाहणिः' इस अनित्य संयोग के जो भी उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं उनके प्रसङ्ग में उत्तर देने के लिए सूत्र लिखते हैं—

अन्त्ययोरुदाहरणयोरुत्तरं पूर्वोक्तमेव द्रष्टव्यम्। अन्तरिक्षादौ चयननिन्दारूपोऽर्थवादो 'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्' (तै० सं० ५।२।७।१) इत्यस्य विधेः शेषः। अतोऽत्र 'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इत्युक्तमेव उत्तरम्। अन्तरिक्षे चयनप्रसक्त्यभावात् तन्निन्दा नित्यानुवादोऽस्तु। तेनापि विधिः स्तोतुं शक्यते, नित्यसिद्धार्थानुवादिना वायोः क्षेपिष्ठत्वेन पशुविधेः स्तुतत्वात्। 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' इत्यत्रापि बबरनामकः कश्चिदनित्यः पुरुषो मनुष्यो न विवक्षितः, किंतु बबरध्वनियुक्तः प्रकर्षेण वहनशीलो वायुर्व्यवहारदशायां नित्य एवार्थो विवक्षितः इत्येतदुत्तरं प्रथमपादस्य अन्तिमाधिकरणे प्रोक्तम्।

अ०—अन्तिम उदाहरणों का उत्तर पहले ही दे दिया गया है। अन्तरिक्ष आदि में अग्निचयन की निन्दा रूप में जो अर्थवाद है वह 'हिरण्यं निधाय चेतन्यं' इस विधि का शेष है। अतः इस विषय में 'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' यह उक्त उत्तर ही समझना चाहिये। अन्तरिक्ष में अग्निचयन की प्रसक्ति के अभाव के कारण उसकी निन्दा नित्य (स्वभाव सिद्ध) का अनुवाद मात्र है किन्तु उससे भी विधि की स्तुति की जा सकती है क्योंकि नित्यसिद्ध अर्थ के अनुवादक वायु की क्षिप्रगामिता सिद्ध करने वाले 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' वाक्य से 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इस पशुविधि की स्तुति की गयी है। 'बबरः प्रावाहणि·····' इसमें भी बबर नाम का कोई अनित्य पुरुष [मनुष्य] नहीं विवक्षित है किन्तु बबर ध्वनि से युक्त उत्कृष्ट रूप से वहनशील वायुरूप, व्यवहार दशा में नित्य अर्थ ही विवक्षित है यह उत्तर प्रथम पाद के अन्तिम अधिकरण में दिया गया है।

तस्मात् सम्भावितदोषाणां परिहृतत्वाद् अर्थवादानाम् अस्ति प्रामाण्यम्। तत्र संग्रहश्लोकाः—

वायुर्वा इत्येवमादेरर्थवादस्य मानता।
न विधेयेऽस्ति धर्मे किं किं वासौ तत्र विद्यते॥
विध्यर्थवादशब्दानां मिथोऽपेक्षापरिक्षयात्।
नास्त्येकवाक्यता धर्मे प्रामाण्यं सम्भवेत् कुतः॥
विध्यर्थवादौ साकांक्षौ प्राशस्त्यपुरुषार्थयोः।
तेनैकवाक्यता तस्माद् वादानां धर्ममानता॥

(जै० न्या० मा० १।२।१)

अ०—इसलिए सम्भावित दोषों के परिहृत हो जाने के कारण अर्थवादवाक्यों का प्रामाण्य है। उस विषय में ये संग्रह श्लोक हैं—'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि अर्थवाद वाक्यों का विधेय धर्म में प्रामाण्य नहीं है अथवा विधेय धर्म में प्रायाण्य है? विधिवाक्य और अर्थवाद वाक्यों में आपस में एक दूसरे की अपेक्षा नहीं है। अतः विधेय धर्म में भला कैसे प्रामाण्य सम्भव हो सकता है (यह पूर्वपक्षी का कहना है। इस पर सिद्धांती कहते हैं) विधिवाक्य और अर्थवाद वाक्य दोनों साकांक्ष हैं। विधिवाक्य अपनी स्तुति की आकांक्षा रखता है और अर्थवाद वाक्य पुरुषार्थ की आकांक्षा। विधिवाक्य की आकांक्षा को अर्थवाद वाक्य पूरा करते हैं और अर्थवाद वाक्य वाली पुरुषार्थ की आकांक्षा को विधिवाक्य पूरा करते हैं। अतएव विधिवाक्य और अर्थवाद वाक्यों में एकवाक्यता सम्भव होती है और विधेय धर्म में अर्थवाद वाक्यों का प्रामाण्य सिद्ध है।

तदेवं वेदे विद्यमानानां त्रयाणां मन्त्रविध्यर्थवादभागानाम् अप्रामाण्ये

कारणाभावात् बोधकानां तेषां प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वाङ्गीकाराच्च कृत्स्नस्यापि वेदस्य प्रामाण्यं सिद्धम् ।

अ०—अतः इस प्रकार वेद में विद्यमान मन्त्र, विधि और अर्थवाद इन तीनों से अप्रामाण्य में कारण न होने से और उन तीनों बोधकों के स्वतः प्रामाण्य को अङ्गीकार करने से सम्पूर्ण वेद का प्रामाण्य स्वतः सिद्ध होता है ।

वेदापौरुषेयत्व सिद्धि

ननु एवमपि वेदस्य पौरुषेयत्वेन विप्रलम्भकवाक्यवत् अप्रामाण्यं स्यात् । पौरुषेयत्वं च प्रथमपादे पूर्वपक्षत्वेन जैमिनिः सूत्रयामास—

'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या' (जै० १।१।२७) ।

अ०—इसप्रकार भी वेद का, पौरुषेय होने के कारण धोखेबाज़ के वाक्य की तरह, अप्रामाण्य हो जायगा । जैमिनि मुनिने प्रथम पाद में पूर्वपक्ष के रूप में पौरुषेयत्व की उपस्थापना करने के लिए सूत्र लिखे हैं—'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या' । अर्थात् वेद के कर्ता के रूप में पुरुषों के नामों का उल्लेख होने से वेद सन्निकर्ष (आधुनिक) हैं ऐसा कुछ लोग मानते हैं ।

एके वादिनो वेदान् प्रति संनिकर्षं मन्यन्ते । कालिदासादिभिर्निर्मितानां रघुवंशादिग्रन्थानां समुच्चयार्थश्चकारः । ते ह्यत्र दृष्टान्ततया समुच्चीयन्ते । यथा रघुवंशादय इदानींतनास्तथा वेदा अपि । न तु वेदा अनादयः । अत एव वेदकर्तृत्वेन पुरुषा आख्यायन्ते । वैयासिकं भारतं वाल्मीकीयं रामायणमित्यत्र यथा भारतादिकर्तृत्वेन व्यासादय आख्यायन्ते तथा काठकं कौथुमं तैत्तिरीयमित्येवं तत्तद्वेदशाखाकर्तृत्वेन कठादीनामाख्यातत्वात् वेदाः पौरुषेयाः ।

अ०—किन्हीं वादी लोगों का मत है कि वेद आधुनिक हैं । सूत्र में जो चकार है वह कालिदासादि द्वारा निर्मित रघुवंश आदि ग्रन्थों का समुच्चयार्थक है । दृष्टान्त के रूप में यहाँ उनका समुच्चय है । जिस प्रकार रघुवंश आदि आधुनिक हैं उसी प्रकार वेद भी । वेद अनादि नहीं हैं, इसीलिए वेद के कर्ता के रूप में पुरुषों का उल्लेख किया जाता है । व्यास रचित भारत, वाल्मीकि रचित रामायण इन कथनों में जिस प्रकार भारत आदि के कर्ता के रूप में व्यास आदि कहे जाते हैं उसी प्रकार काठक, कौथुम, तैत्तिरीय इत्यादि उस उस वेद शाखा के कर्ता के रूप में कठ आदि को कहा हुआ होने के कारण वेद पौरुषेय हैं ।

ननु नित्यानामेव सतां वेदानामुपाध्यायवत् सम्प्रदायप्रवर्त्तकत्वेन काठकादिसमाख्या स्यादित्याशङ्क्य युक्त्यन्तरं सूत्रयति—

'अनित्यदर्शनाच्च' (जै० १।१।२८) इति ।

अ०—नित्य वेदों का ही, उपाध्याय की तरह सम्प्रदाय-प्रवर्तक के रूप में काठक आदि का नाम आया है, ऐसी शङ्का करके दूसरी युक्ति देने के लिए सूत्र लिखते हैं —'अनित्यदर्शनाच्च' अर्थात् अनित्य पदार्थों का दर्शन होने से ।

अनित्या जननमरणवन्तो बबरादयो वेदे श्रूयन्ते–'बबरः प्रावाहणिरकामयत' (तै० सं० ७।१।१०।२) 'कुसुरुबिन्द औद्दालकिरकामयत' (तै० सं० ७।२।२।१) इति । तथा सति बबरादिभ्यः पूर्वमभावाद् अनित्या वेदाः । विमतं वेदवाक्यं पौरुषेयं वाक्यत्वात्, कालिदासादिवाक्यवद् इत्याद्यनुमानसमुच्चयार्थश्चकारः ।

अ०—जन्म मरण वाले अनित्य बबर आदि वेद में सुने जाते हैं—'बबरः प्रावाहणिरकामयत' 'कुसुरुबिन्द औद्दालकिरकामयत' आदि । और इस प्रकार बबर आदि से पहले वेदों का अभाव होने के कारण वे अनित्य हैं । कालिदासादि के वाक्यों की तरह, वाक्य होने के कारण, विवादास्पद वेद वाक्य पौरुषेय हैं, इत्यादि अनुमान का समुच्चय करने के लिए सूत्र में चकार पढ़ा गया है ।

सिद्धान्तं सूत्रयति—

'उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्' (जै० १।१।२९) इति ।

तुशब्दो वेदानामनित्यत्वं वारयति । शब्दस्य वेदरूपस्य कठादिपुरुषेभ्यः पूर्वत्वम् अनादित्वं प्राचीनैरेव सूत्रैरुक्तम् । 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धः' (जै० १।१।५) इत्यस्मिन् सूत्रे औत्पत्तिकशब्देन सर्वेषां शब्दानां वेदानां तदर्थानां तदुभयसम्बन्धानां च नित्यत्वं प्रतिज्ञाय उत्तराभ्यां शब्दाधिकरणवाक्याधिकरणाभ्यामुपपादितत्वात् । का तर्हि काठकाद्याख्याया गतिरित्याशङ्क्य संप्रदायप्रवर्तनात् सेयमुपपद्यते इत्युत्तरं सूत्रयति—

'आख्या प्रवचनात्' (जै० १।१।३०) इति ।

अ०—सिद्धान्त प्रतिपादन के लिए सूत्र लिखते हैं—'उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्' अर्थात् शब्दों की प्राथमिकता और नित्यता कही जा चुकी है । सूत्र में पठित 'तु' शब्द वेदों की अनित्यता का वारण करता है । वेदरूप शब्द की, कठ आदि पुरुषों से पूर्वभाविता और अनादिता प्राचीन सूत्रों से ही कही गयी है । 'औत्पत्तिकस्तु····सम्बन्धः' इस सूत्र में औत्पत्तिक शब्द से सभी शब्द रूप वेदों की, उनके अर्थों की और उन दोनों के सम्बन्धों की नित्यता की प्रतिज्ञा करके, बाद में आने वाले शब्दाधिकरण और वाक्याधिकारणों के द्वारा, उसे प्रतिपादित किया गया है । इस स्थिति में काठक आदि के उल्लेख की क्या गति होगी ? ऐसी

शङ्का करके इसका उत्तर देने के लिए सूत्र लिखते हैं—'आख्या प्रवचनात्'। अर्थात् प्रवचन के कारण आख्या है।

अस्तु इयमाख्याया गतिः। ततः परं बबराद्यनित्यदर्शनं यदुक्तं तस्य किमुत्तरमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (जैं० १।१।३१) इति।

अ०—ठीक है आख्या की यह गति (समाधान) हो, किन्तु बबर आदि अनित्य पदार्थों का जो कथन है उसका क्या उत्तर है, ऐसी शङ्का करके इसका उत्तर सूत्रबद्ध करते हैं—'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्'। अर्थात् अनित्य पदार्थों का उल्लेख तो शब्दसामान्यमात्र है।

यत् परं बबरादिकं तच्छब्दसामान्यमेव। न तु मनुष्यो बबरनामकोऽत्र विवक्षितः। बबरध्वनियुक्तस्य प्रवहणस्वभावस्य वायोरत्र वक्तुं शक्यत्वात्।

अ०—दूसरे स्थान पर बबर आदि का जो उल्लेख है, वह शब्दसामान्य ही है न कि बबर नाम वाला मनुष्य यहाँ विवक्षित है। यहाँ तो प्रवहण स्वभाव वाले बबर ध्वनि से युक्त वायु का ग्रहण किया जा सकता है।

ननु, वेदे क्वचिदेवं श्रूयते 'वनस्पतयः सत्रमासत', 'सर्पाः सत्रमासत' इति। तत्र वनस्पतीनामचेतनत्वात्, सर्पाणां चेतनत्वेऽपि विद्यारहितत्वात् न तदनुष्ठानं संभवति। अतो 'जरद्गवो गायति मद्रकाणि' इत्याद्युन्मत्तबालवाक्यसदृशत्वात् केनचित् कृतो वेद इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'कृते चाविनियोगः स्यात् कर्मणः समत्वात्' (जै० १।१।३२) इति।

अ०—वेद में किसी स्थान पर ऐसा सुना जाता है कि 'वनस्पतियों ने सत्रयज्ञ किया' तथा 'सर्पों ने सत्रयज्ञ किया'। ऐसी स्थिति में वनस्पतियों के अचेतन होने के कारण, सर्पों के चेतन होने पर भी विद्यारहित होने के कारण सत्रयज्ञ का अनुष्ठान उनके द्वारा सम्भव नहीं है। अतः

'जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्यां द्वारिस्थितो गायति मद्रकाणि।
तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकाम्या राजन् रुमायां लशुनस्य कोऽर्थः॥

अर्थात् बूढ़ा बैल कम्बल और पादुकाओं के साथ दरवाजे पर खड़ा होकर कल्याणकारी गान गाता है। पुत्रकामना वाली ब्राह्मणी उससे पूछती है कि हे राजन्, नमक की खान में भला लशुन का क्या मूल्य है? इत्यादि, पागल तथा बालक आदि के वाक्य के समान होने के कारण, किसी ऐसे ही व्यक्ति के द्वारा वेद की भी रचना हुयी है, ऐसी शंका करके इसका उत्तर सूत्रबद्ध करते हैं—

'कृते चाविनियोगः स्यात् कर्मणः समत्वात्'। अर्थात् वैसे व्यक्ति द्वारा रचित होने पर ज्योतिष्टोम आदि का विनियोग नहीं हो सकता तथा अन्य कर्मों के समान होने से सत्र प्रतिपादक वाक्य भी उन्मत्त आदि के वाक्य के सदृश नहीं हो सकते।

यदि ज्योतिष्टोमादिवाक्यं केनचित् पुरुषेण क्रियेत तदानीं कृते तस्मिन् वाक्ये स्वर्गसाधनत्वे ज्योतिष्टोमस्य विनियोगो न स्यात्; साध्य-साधनभावस्य पुरुषेण ज्ञातुमशक्यत्वात्। श्रूयते तु विनियोगः 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इति। न चैतदुन्मत्तवाक्यसदृशं, लौकिकविधिवाक्यवद् भाव्यकरणेतिकर्त्तव्यतारूपैस्त्रिभिरंशैरुपेताया भावनाया अवगमात्। लोके हि ब्राह्मणान् भोजयेदिति विधौ, किं, केन, कथमित्याकांक्षायां, तृप्तिमुद्दिश्य, ओदनेन द्रव्येण, शाकसूपादिपरिवेषणप्रकारेण इति यथा उच्यते, तथा ज्योतिष्टोमविधावपि स्वर्गमुद्दिश्य, सोमेन द्रव्येण, दीक्षणीयाद्यङ्गोपकारप्रकारेण इत्युक्ते कथमुन्मत्तवाक्यसदृशं भवेत्। वनस्पत्यादिसत्रवाक्यमपि न तत्सदृशं, तस्य सत्रकर्मणो ज्योतिष्टोमादिना समत्वात्। 'यत्परो हि शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायविद आहुः। ज्योतिष्टोमादिवाक्यस्य विधायकत्वादनुष्ठाने तात्पर्यम्। वनस्पत्यादिसत्रवाक्यस्य अर्थवादत्वात् प्रशंसायां तात्पर्यम्। सा चाविद्यमानेनापि कर्तुं शक्यते। अचेतना अविद्वांसोऽपि सत्रमनुष्ठितवन्तः, किं पुनश्चेतना विद्वांसो ब्राह्मणा इति सत्रस्तुतिः। चकारः पूर्वपक्षोक्तस्य वाक्यत्वहेतोः कर्त्रनुपलम्भेन पराहतिं समुच्चिनोति। तस्मात् नास्ति वेदस्य पौरुषेयत्वम्।

अ०—यदि ज्योतिष्टोम आदि वाक्य किसी पुरुष के द्वारा रचित होते तो उनके द्वारा उन वाक्यों के रचित होने पर स्वर्गसाधनता में ज्योतिष्टोम का विनियोग न होता क्योंकि पुरुष के द्वारा साध्य-साधन भाव का ज्ञान करना असम्भव है। किन्तु 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' ऐसा विनियोग सुना तो जाता है। लौकिक विधि वाक्य के समान इनमें भाव्य (साध्य), करण (साधन) तथा इतिकर्तव्यतारूप तीनों अंशों से युक्त भावना का बोध होने के कारण यह उन्मत्त वाक्य के सदृश नहीं है। लोक में 'ब्राह्मणान् भोजयेत्' अर्थात् ब्राह्मणों को भोजन कराया जाय, इस विधि वाक्य में क्यों भोजन कराय जाय ? (साध्य) किससे भोजन कराया जाय ? (साधन) किस प्रकार भोजन कराया जाय (इति कर्तव्यता) ऐसी आकांक्षा होने पर तृप्ति के उद्देश्य से, ओदन द्रव्य से और शाक सूप (दाल) आदि वेषण प्रकार से (परसने के ढंग से) (भोजन कराया जाय), यह जिस प्रकार कहा जाता है उसी प्रकार ज्योतिष्टोम विधि में भी स्वर्ग के उद्देश्य से,

सोमद्रव्य से, दीक्षणीय आदि उपकारक अङ्गों से, ऐसा कहने पर भला, यह उन्मत्तवाक्य के समान कैसे हो सकता है ? वनस्पति आदि सत्रवाक्य भी उन्मत्त-वाक्य सदृश नहीं हैं क्योंकि उस सत्र-कर्म की भी ज्योतिष्टोम आदि विधियों से समानता है । मीमांसा के विद्वान् कहते भी हैं 'यत्परो हि शब्दः स शब्दार्थः' । अर्थात् जिस तात्पर्य से शब्द कहा जाता है वही उसका अर्थ होता है । ज्योतिष्टोम आदि वाक्य का, विधायक होने के कारण, अनुष्ठान में ही तात्पर्य है । वनस्पत्यादि सत्र वाक्य का, अर्थवाद वाक्य होने के कारण, स्तुति में ही तात्पर्य है । और वह स्तुति अविद्यमान पदार्थ के द्वारा भी की जा सकती है । 'अचेतन और अविद्वानों ने भी सत्र का अनुष्ठान किया भला चेतन विद्वान् ब्राह्मणों का क्या कहना' यह सत्र की स्तुति ही तो है । उपर्युक्त सूत्र में चकार के पाठ से, पूर्व-पक्षी के द्वारा कहा गया वाक्यत्व हेतु के, वेद के कर्त्ता के न मिलने के कारण; निराकरण का समुच्चय होता है । अतः वेद पौरुषेय नहीं है ।

अत्रैतौ संग्रहश्लोकौ—

पौरुषेयं न वा वेदवाक्यं स्यात्पौरुषेयता ।
काठकादिसमाख्यानाद् वाक्यत्वाच्चान्यवाक्यवत् ॥
समाख्यानं प्रवचनाद् वाक्यत्वं तु पराहतम् ।
तत्कर्त्रनुपलम्भेन स्यात्ततोऽपौरुषेयता ॥

(जै० न्या० मा० १।१।८)

अ०—इस सम्बन्ध में ये दो संग्रह श्लोक हैं—वे वाक्य पौरुषेय नहीं अथवा पौरुषेय हैं (सम्भवतः पौरुषेय ही हैं), क्योंकि कठ आदि द्वारा प्रोक्त काठक आदि कहे गये हैं और अन्य वाक्यों (कालिदासादि के वाक्यों) के समान वेद भी वाक्य है । (ऐसा पूर्वपक्षी ने कहा । इस पर सिद्धान्ती कहते हैं—) बात यह है कि कठ आदि प्रवचन करने वाले हैं अतः उन्हें कहा गया है और जहाँ तक वेद वाक्य होने का सम्बन्ध है वेद के कर्त्ता की अनुपलब्धि होने से, वेद वाक्य हैं, इसका खण्डन हो जाता है । इसलिए वेद अपौरुषेय हैं ।

ननु भगवना वादरायणेन वेदस्य ब्रह्मकार्यत्वं सूत्रितम् 'शास्त्रयोनित्वात्' (वेदान्तसूत्र १।१।३) इति । ऋग्वेदादिशास्त्रकारणत्वात् ब्रह्म सर्वज्ञमिति सूत्रार्थः । वाढम् । नैतावता पौरुषेयत्वं भवति, मनुष्यनिर्मितत्वाभावात् । ईदृशपौरुषेयत्वमभिप्रेत्य व्यवहारदशायामाकाशादिवत् नित्यत्वं वादरायणेनैव देवताधिकरणे सूत्रितम्—'अत एव च नित्यत्वम्' (ब्र० सू० १।३।२९) इति । श्रुतिस्मृती चात्र भवतः । 'वाचा विरूप नित्यया' (ऋ० ८।७५।६) इति श्रुतिः । 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वय-

म्भुवा' (म० भा० शां० २३२।३४) इति स्मृतिः। तस्मात् कर्तृदोष-शङ्कायाअनुदयात् मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य निर्विघ्नं प्रामाण्यं सिद्धम्।

अ०—भगवान् बादरायण ने 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र लिखकर बताया है कि वेद ब्रह्म का कार्य है। ऋग्वेदादि शास्त्रों का कारण होने से ब्रह्म सर्वज्ञ है यह सूत्र का अर्थ है (पूर्वपक्ष)। ठीक है, किन्तु मात्र इतने से पौरुषेयत्व तो नहीं सिद्ध होता क्योंकि वेद मनुष्य निर्मित नहीं हैं। बादरायण ने ही देवताधिकरण में 'अतएव च नित्यत्वं' सूत्र लिखकर ऐसे ही अपौरुषेयत्व के अभिप्राय से व्यवहार दशा में आकाश आदि की तरह वेद नित्य हैं, ऐसा सिद्ध किया है। इस प्रसङ्ग में श्रुति और स्मृति भी हैं। 'वाचा विरूप नित्यया' अर्थात् हे विरूप नित्य वाणी से (स्तुति करो)' यह श्रुति है। 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' अर्थात् 'ब्रह्मा ने आदि और अन्तरहित नित्या वाणी की सृष्टि की' यह स्मृति है। अतः कर्त्ता के दोष की शङ्का के उदय ही न होने के कारण मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद का निर्विघ्न प्रामाण्य सिद्ध होता है।

वेद का मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वविचार

ननु मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वं वेदस्य न युक्तं, तयोः स्वरूपस्य निर्णेतुमशक्यत्वात्। मैवम्। द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादे सप्तमाष्टमयोरधिकरणयोर्निर्णीतत्वात्। सप्तमाधिकरणमारचयति—

अहे बुध्निय मन्त्र म इति मन्त्रस्य लक्षणम्।
नास्त्यस्ति वाऽस्य नास्त्येतदव्याप्त्यादेरवारणम्॥
याज्ञिकानां समाख्यानं लक्षणं दोषवर्जितम्।
तेऽनुष्ठानस्मारकादौ मन्त्रशब्दं प्रयुञ्जते॥
(जै० न्या० मा० २।१।७)

अ०—वेद मन्त्रब्राह्मणात्मक है, यह कहना उचित नहीं है क्योंकि उन दोनों के स्वरूप का निर्णय नहीं किया जा सकता, यह शङ्का करें तो नहीं कर सकते। कारण यह है कि द्वितीयाध्याय के प्रथम पाठ में सातवें और आठवें अधिकरण में यह निर्णीत हो चुका है। सातवें अधिकरण में किये गये निर्णय का संग्रह करते हैं—'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय' यह मन्त्र का लक्षण नहीं है अथवा है, ऐसी शङ्का होने पर कहते हैं कि अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोषोंके वारण न हो सकने के कारण मन्त्र का यह लक्षण नहीं ही है (पूर्वपक्ष)। (उत्तरपत्त में कहते हैं) याज्ञिकों का समाख्यान अर्थात् नामका निर्देश दोपवर्जित लक्षण है। वे लोग अनुष्ठानों के स्मारक आदि वाक्यों में मन्त्र शब्द का प्रयोग करते हैं।

आधाने इदमाम्नायते—'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय' (तै० ब्रा०

१।१।२६) इति। तत्र मन्त्रस्य लक्षणं नास्ति, अव्याप्त्यतिव्याप्त्योर्वारयितुमशक्यत्वात्। विहितार्थाभिधायको मन्त्रः इत्युक्ते 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (वा० सं० २४।२०)। इत्यस्य मन्त्रस्य विधिरूपत्वादव्याप्तिः। मननहेतुर्मन्त्रः इत्युक्ते ब्राह्मणेऽतिव्याप्तिः। एवम् असिपदान्तो मन्त्रः, उत्तमपुरुषान्तो मन्त्रः, इत्यादिलक्षणानां परस्परमव्याप्तिरिति चेत्, मैवम्। याज्ञिकसमाख्यानस्य निर्दोषलक्षणत्वात्। तच्च समाख्यानमनुष्ठानस्मारकादीनां मन्त्रत्वं गमयति। 'उरु प्रथस्व' (तै० सं० १।१।८।१) इत्यादयोऽनुष्ठानस्मारकाः। 'अग्निमीले पुरोहितम्' (ऋ० सं० १।१।१) इत्यादयः स्तुतिरूपाः। 'इषे त्वा' (तै० सं० १।१।१।१) इत्यादयस्त्वान्ताः 'अग्न आयाहि वीतये' (तै० ब्रा० ३।५।२।१) इत्यादयः आमन्त्रणोपेताः। 'अग्नीदग्नीन् विहर' (तै० सं० ६।३।१।२) इत्यादयः प्रैषरूपाः। 'अधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्' (ऋ० सं १०।१२९।५) इत्यादयो विचाररूपाः। 'अम्बे अम्बिके अम्बालिके न मा नयति कश्चन' (तै० सं० ७।४ १९।१) इत्यादयः परिदेवनरूपाः। 'पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः' (तै० सं० ७।४।१८।२ इत्यादयः प्रश्नरूपाः। 'वेदिमाहुः परमन्तं पृथिव्याः' (तै० सं० ७।४।१८।२) इत्यादय उत्तररूपाः। एवमन्यदप्युदाहार्यम्। ईदृशेष्वत्यन्तविजातीयेषु समाख्यानमन्तरेण नान्यः कश्चिदनुगतो धर्मोऽस्ति यस्य लक्षणत्वमुच्येत। लक्षणस्य चोपयोगः पूर्वाचार्यैर्दर्शितः—

ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः॥

तस्मादभियुक्तानां मन्त्रोऽयमिति समाख्यानं लक्षणम्।

अ०—'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय' यह उद्धरण आधानप्रकरण में कहा गया है। वहाँ मन्त्र का लक्षण नहीं है क्योंकि—यदि कोई लक्षण हो तो उसमें अव्याप्ति-अतिव्याप्ति दोषों का वारण नहीं किया जा सकता। विहित अर्थ का अभिधायक मन्त्र है, ऐसा कहने पर 'वसन्ताय कपिञ्जलान् आलभते' इस मन्त्र का विधिरूप होने के कारण मन्त्र का लक्षण अव्याप्ति दोषग्रस्त है। 'मननहेतुर्मन्त्रः' ऐसा कहने पर इस लक्षण का ब्राह्मण में भी लक्ष्य हो जायेगा, अतः यह अतिव्याप्ति दोष ग्रस्त लक्षण होगा। इसी प्रकार 'असिपदान्त मन्त्र है, उत्तम पुरुषान्त मन्त्र है' इत्यादि लक्षण भी परस्पर अव्याप्ति दोषग्रस्त होंगे, ऐसा यदि कहें तो नहीं कह सकते, क्योंकि याज्ञिक समाख्यानरूप निर्दुष्ट लक्षण मिलता ही है। और वह समाख्यान अनुष्ठान स्मारक आदि वाक्यों के मन्त्रत्व का बोध कराता है।

'उरु प्रथस्व' इत्यादि अनुष्ठानस्मारक वाक्य हैं। 'अग्निनीले पुरोहितं' इत्यादि

स्तुतिरूप । 'इषे त्वा' इत्यादि त्वान्त हैं । 'अग्न आयाहि वीतये' इत्यादि आमन्त्रण वाक्य है । 'अग्नीदग्नीन्, विहर' इत्यादि प्रैषरूप हैं । 'अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीद्' इत्यादि विचाररूप हैं । 'अम्बेऽम्बिके अम्बालिके' इत्यादि परिदेवन-रूप हैं । 'पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः' इत्यादि प्रश्न-रूप है । 'वेदिमाहु परमन्तं पृथिव्याः' इत्यादि उत्तर-रूप है । इसी प्रकार दूसरे भी उदाहरण हो सकते हैं । ऐसे-ऐसे अत्यन्त विजातीय स्वरूप वाले मन्त्र में याज्ञिक समाख्यान को छोड़कर दूसरा कोई भी अनुगत (सब में समान रूप से पाया जाने वाला) धर्म नहीं है जिसे मन्त्र का लक्षण कहा जाय । पूर्वाचार्यों ने लक्षण का उपयोग बताया है—ऋषि लोग भी एक-एक करके पदार्थों का पार नहीं पा सकते किन्तु विद्वान् लोग लक्षण की सहायता से सभी अदार्थों का पार पा जाते हैं ।

अतः याज्ञिकों का यह मन्त्र है, यह समाख्यान (नामनिर्देश) ही मन्त्र का लक्षण है ।

ब्राह्मण-लक्षणविचार

अष्टमाधिकरणमारचयति

नास्त्येतद् ब्राह्मणेत्यत्र लक्षणं विद्यतेऽथवा ।
नास्तीयन्तो वेदभागा इति क्लृप्तेरभावतः ॥
मन्त्रश्च ब्राह्मणं चेति द्वौ भागौ तेन मन्त्रतः ।
अन्यद् ब्राह्मणमित्येतद् भवेद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥

(जै० न्या० मा० २।१।८)

अ० —अब अष्टमाधिकरण का संग्रह करते हैं—'एतद् ब्राह्मणान्येव पञ्चहवींषि' इस उद्धरण में आये हुए ब्राह्मण का लक्षण है अथवा नहीं है इस संशय में कहते हैं कि 'इतने वेदभाग हैं इस निश्चय का अभाव होने के कारण लक्षण नहीं है । उत्तर देते हैं कि वेद के मन्त्र और ब्राह्मण दो भाग हैं, जिनमें मन्त्र का लक्षण पहले कहा जा चुका है उससे भिन्न जो कुछ अवशिष्ट रहा उस वेद भाग को ब्राह्मण कहेंगे । यही ब्राह्मण का लक्षण है ।

चातुर्मास्येष्विदमाम्नायते—'एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि' (तै० ब्रा० १।७।१।१) इति । तत्र ब्राह्मणस्य लक्षणं नास्ति । कुतः ? वेदभागानामियत्तानवधारणेन ब्राह्मणभागेष्वन्यभागेषु च लक्षणस्य अव्याप्त्यतिव्याप्त्योः शोधयितुमशक्यत्वात् । पूर्वोक्तो मन्त्रभाग एकः । भागान्तराणि च कानिचित् पूर्वैरुदाहर्तुं संगृहीतानि—

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः ।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना ॥ इति ।

'तेन ह्यन्नं क्रियते' (श० ब्रा० २।५।२।२३) इति हेतुः। 'तद्दध्नो दधित्वम्' (तै० सं० २।५।३।४) इति निर्वचनम्। 'अमेध्या वै माषाः' (तै० सं० ५।१।८।१) इति निन्दा। 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' (तै० सं० २।१।१।१) इति प्रशंसा। 'तद्व्यचिकित्सज्जुहवानी३मा हौषा३म्' (तै० सं० ६।५।९।१) इति संशयः। 'यजमानेन संमितौदुम्बरी भवति' (तै० सं० ६।२।१०।३) इति विधिः। 'माषानेव मह्यं पचन्ति' इति परकृतिः। 'पुरा ब्राह्मणा अभैषुः' (तै० सं० १।५।७।५) इति पुराकल्पः। 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणान् चतुष्कपालान्निर्वपेत्' (तै० सं० २।३।१२।१) इति विशेषावधारणकल्पना। एवमन्यदप्युदाहार्यम्।

अ०—चातुर्मास्य प्रकरण में 'एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि' यह कहा जाता है। वहाँ ब्राह्मण का लक्षण नहीं है क्योंकि वेद के भागों की इयत्ता के निश्चय न होने के कारण ब्राह्मण भागों में और अन्य भागों में लक्षण के अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों का संशोधन नहीं किया जा सकता। पहले कहा गया मन्त्रभाग एक है और दूसरे कुछ भागों का, पूर्वाचार्यों ने उदाहरण के लिए संग्रह किया है—हेतु, निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, संशय, विधि, परक्रिया, पुराकल्प, व्यवधारण कल्पना।

'तेन ह्यन्नं क्रियते' (उससे अन्न बनाया जाता है) यह हेतु का कथन है। 'तद्दध्नो दधित्वम्' (यही दही का दहीपन है) यह दधि शब्द का निर्वचन है। 'अमेध्या वै माषाः' (उड़द यज्ञ के योग्य नहीं हैं) यह निन्दा है। 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' (वायु अतिक्षिप्रगामी देवता है), यह प्रशंसा है 'तद्व्यचिकित्सज् जुहवानी माहौषाम्' (अतः संशय में पड़ा हुआ मैं हवन करूँ या न करूँ), यह संशय है। 'यजमानेन सम्मितौदुम्बरी भवति' (यजमान के प्रमाण की गूलर होवे), यह विधि है। 'माषानेव मह्यं पचन्ति' (मेरे लिये उड़द, ही पकाते हैं), यह परक्रिया है। 'पुरा ब्राह्मणाः अभैषुः' (प्राचीन काल में ब्राह्मण डर गये), यह पुराकल्प है 'यावतो-ऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान् निर्वपेत्' (जितने घोड़ों का प्रतिग्रह करे उतने ही वरुणदेवता वाले चतुष्कपालों से याग करे), यह व्यवधा-रण कल्पना है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी लिये जा सकते हैं।

न च हेत्वादीनामन्यतमं ब्राह्मणमितिलक्षणं, मन्त्रेष्वपि हेत्वादिसद्भा-वात्—'इन्दवो वामुशन्ति हि' (ऋ० सं० १।२।४) इति हेतुः। 'उदानिषु-र्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते' (तै० सं० ५।६।१।३; अथर्व० ३।१३।४) इति निर्वचनम्। 'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः' (ऋ० सं० १०।११७।६) इति निन्दा। 'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्' (ऋ० सं० ८।४४।१६) इति

प्रशंसा। 'अधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्' (ऋ० सं १०।१२९।५) इति संशयः। 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (वा० सं० २४।२०) इति विधिः। 'सहस्रमयुता ददत्' (ऋ० सं ८।२१।१८) इति परकृतिः। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' (ऋ० सं० १।१६४।५०) इति पुराकल्पः। इतिकरणवहुलं ब्राह्मणमिति चेत्, न, 'इत्यददा इत्ययजथा इत्यपच इति ब्राह्मणो गायेत्' (तै० ब्रा० ३।९।१४।३) इत्यस्मिन् ब्राह्मणेन गातव्ये मन्त्रेऽतिव्याप्तेः। 'इत्याह' इत्यनेन वाक्येनोपनिवद्धं ब्राह्मणमिति चेत्, न, 'राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह' (ऋ० सं० ७।४१।२), 'यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह' (ऋ० सं० ७।१०।१६) इत्यनयोर्मन्त्रयोरतिव्याप्तेः। आख्यायिकारूपं ब्राह्मणमिति चेत्, न, यमयमीसंवादसूक्तादौ (ऋ० सं० १०।१०) अतिव्याप्तेः।

अ०—'हेतु आदि में से कोई एक ब्राह्मण है, यह लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि मन्त्रों में भी हेतु आदि रहते ही हैं। 'इन्दवो वामुशन्ति हि' (यतः सोम तुम्हारी कामना करते हैं), यह हेतु है। 'उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते' (यतः पृथ्वी को ऊपर लाये अतः वे उदक कहलाते हैं), यह निर्वचन है। 'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता' (मूर्ख लोग व्यर्थ में अन्न प्राप्त करते हैं), यह निन्दा है। 'अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुद्' (अग्नि द्युलोक का प्रधान शिर है), यह प्रशंसा है। 'अधः स्विदासीदुपरिस्विदासीद्' (पता नहीं वह नीचे था अथवा ऊपर था), यह संशय है। 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (वसन्त के लिये कपिञ्जलों का आलभन करे), वह विधि है। 'सहस्रमयुता ददत्' (हजार-दस हजार दिया), यह परक्रिया है। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' (देवताओं ने यज्ञ से यज्ञपुरुष का याग किया), यह पुराकल्प है। ये सभी, जहाँ इतिकरण की वहुलता हो, ब्राह्मण हैं; ऐसा कहें तो नहीं कह सकते, क्योंकि 'इत्यददा इत्ययजथा इत्यपच इति ब्राह्मणो गायेत्' ब्राह्मण के गाने योग्य इस मन्त्र में इस ब्राह्मण लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। यदि 'इत्याह' इस वाक्य से उपनिवद्ध ब्राह्मण हैं, ऐसा कहें तो नहीं कह सकते क्योंकि 'राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह' 'यो मायातं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह' इन दोनों मन्त्रों में अतिव्याप्ति दोष हो जायेगा! यदि कोई कहे कि आख्यायिका रूप ब्राह्मण है तो नहीं कह सकता, क्योंकि यमयमीसंवादसूक्त आदि में अतिव्याप्ति हो जायगी।

तस्मात् नास्ति ब्राह्मणस्य लक्षणमिति प्राप्ते ब्रूमः। मन्त्रब्राह्मणरूपौ द्वावेव वेदभागौ इत्यङ्गीकारात् मन्त्रलक्षणस्य पूर्वमभिहितत्वादवशिष्टो वेदभागो ब्राह्मणमित्येतल्लक्षणं भविष्यति। तदेतल्लक्षणद्वयं जैमिनिः

सूत्रयामास—'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या', 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (जै० सू० २।१।३२-३३) इति।

अ०—अतः ब्राह्मण का लक्षण नहीं है ऐसी शङ्का उपस्थित होने पर कहते हैं—मन्त्रब्राह्मणरूप वेद के दो ही भाग हैं, ऐसा स्वीकार करने से और मन्त्र के लक्षण को पहले कह दिये जाने से, उससे अवशिष्ट वेदभाग ब्राह्मण है, यह लक्षण होगा। अतएव ये दोनों लक्षण जैमिनि मुनि द्वारा सूत्रवद्ध किये गये हैं—'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' अर्थात् 'अभिधान को प्रकट करने वाले वाक्यों के लिए मन्त्र का प्रयोग करते हैं', 'अवशेष में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग होगा'।

तस्मिन् वेदे केषुचिदभिधायकेषु वाक्येषु मन्त्र इति समाख्या सम्प्रदायविद्भिर्व्यवह्रियते—'मन्त्रानधीमहे इति'। मन्त्रव्यतिरिक्तभागे तु ब्राह्मणशब्दस्तैर्व्यवहृत इत्यर्थः।

अ०—साम्प्रदायिक लोग उस वेद के किन्हीं अभिधायक वाक्यों में मन्त्र का प्रयोग करते हैं हम लोग मन्त्र पढ़ते हैं। मन्त्र के अतिरिक्त भाग में तो ब्राह्मण शब्द का वे लोग व्यवहार करते हैं!

ननु ब्रह्मयज्ञप्रकरणे मन्त्रब्राह्मणव्यतिरिक्ता इतिहासादयो भागा आम्नायन्ते—'यद् ब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः' (तै० आ० २।९) इति। मैवम्। विप्रपरिव्राजकन्यायेन ब्राह्मणाद्यवान्तरभेदानामेवेतिहासादोनां पृथगभिधानात्। 'देवासुराः संयत्ता आसन्' (तै० सं० ५।३।११।१) इत्यादय इतिहासा;। 'इदं वा अग्रे नैव किंचनासीत्' (तै० ब्रा० २।२।९।१) इत्यादिकं जगतः प्रागवस्थामुपक्रम्य सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम्। कल्पस्तु आरुणकेतुकचयनप्रकरणे समाम्नायते—'इति मन्त्राः। कल्पोऽत ऊर्ध्वम्। यदि बलिं हरेत्' (तै० आ० १।३।१।२) इति। अग्निचयने 'यमगाथाभिः परिगायति' (तै० सं० ५।१।८।२) इति विहिता मन्त्रविशेषा गाथाः। मनुष्यवृत्तान्तप्रतिपादका ऋचो नाराशंस्यः तस्मात् मन्त्रब्राह्मणव्यतिरिक्तभागाभावात् मन्त्रब्राह्मणस्वरूपस्य लक्षितत्वात् तदुभयात्मकत्वं वेदस्य सुस्थितम्।

अ०—यदि कहें कि ब्रह्मयज्ञ के प्रकरण में मन्त्र और ब्राह्मण भागों से अतिरिक्त इतिहास आदि भाग भी कहे जाते हैं—'यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसो', तो भला वेद के मन्त्र और ब्राह्मण दो ही भाग हैं, ऐसा कैसे माना जाय? तो नहीं कह सकते क्योंकि विप्रपरिव्राजकन्याय से (ब्राह्मण ही यदि परिव्राजक हो जाय तो अन्य ब्राह्मण से भेद करने के लिए यह

परिव्राजक है और अन्य ब्राह्मण हैं, ऐसा व्यवहार किया जाता है किन्तु वह परिव्राजक भी ब्राह्मण है ही) से ब्राह्मण आदि के अवान्तर भेद इतिहास आदि का ही पृथक् अभिधान होता है। 'देवासुराः संयता आसन्' (देव और असुर युद्ध के लिए उद्यत थे), इत्यादि इतिहास है। 'इदं वा अग्रे नैव किञ्चनासीत्' (प्रारम्भ में यह कुछ नहीं था), इत्यादि जगत् की प्राग् अवस्था का उपक्रम करके सृष्टि का प्रतिपादक वाक्यसमूह पुराण है। कल्प तो आरुणकेतुकचयन प्रकार में कहा गया है—'इति मन्त्रा कल्पोऽत ऊर्ध्वम् यदि बलिं हरेत्' (ये उपर्युक्त मन्त्र हैं, इसके बाद 'यदि बलिं हरेत्' आदि कल्प है।) अग्निचयन में 'यमगाथाभिः परिगायति' (यम गाथाओं से गाये) इस प्रकार विहित मन्त्रविशेष गाथा हैं। मनुष्य वृत्तान्त की प्रतिपादक ऋचायें नाराशंसी हैं। अतः मन्त्र और ब्राह्मणों से अतिरिक्त वेदभाग के अभाव होने के कारण और मन्त्र और ब्राह्मण के स्वरूप के लक्षित हो जाने के कारण वेद का मन्त्रब्राह्मणात्मकत्व व्यवस्थित हो गया।

मन्त्रत्रैविध्य विचार

मन्त्रावान्तरविशेषश्च तस्मिन्नेव पादे इत्थं विचारितः।
नर्क्सामयजुषां लक्ष्म सांकर्यादिति शङ्किते।
पादश्च गीतिः प्रश्लिष्टपाठ इत्यस्त्वसंकरः॥ (जै० न्या० २।१।१०)

अ०—उसी पाद में मन्त्र और उसके अवान्तर भेदों का इस प्रकार विचार किया गया है—ऋक्, साम और यजुष् का, सांकर्य (एक दूसरे से मिले हुए होने) के कारण कोई लक्षण नहीं है, ऐसी शंका होने पर पादबद्ध होना ऋक्, गान होना साम, और प्रश्लिष्टपाठ होना यजुष् है, इस प्रकार सांकर्य नहीं हो सकता।

इदमाम्नायते—'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः। ऋचः सामानि यजूंषि' (तै० ब्रा० १।२।१।२६) इति। त्रीन् वेदान् विदन्तीति त्रिविदः। त्रिविदां संबन्धिनोऽध्येतारस्त्रैविदाः। ते च यं मन्त्रभागम् ऋगादिरूपेण त्रिविधमाहुस्तं गोपाय इति योजना। तत्र त्रिविधानामृक्सामयजुषां व्यवस्थितं लक्षणं नास्ति। कुतः? सांकर्यस्य दुष्परिहरत्वात्। अध्यापकप्रसिद्धेषु ऋग्वेदादिषु पठितो मन्त्र इति लक्षणं वक्तव्यम्। तच्च संकीर्णम्। 'देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः' (तै० सं० १।१।५।१) इत्ययं मन्त्रो यजुर्वेदे संप्रतिपन्नयजुषां मध्ये पठितः। न च तस्य यजुष्ट्वमस्ति तद्ब्राह्मणे 'सावित्र्यर्चा' (तै० ब्रा० ३।२।५।२) इति ऋक्त्वेन व्यवहृतत्वात्। 'एतत्साम गायन्नास्ते' (तै० आ० ९।१०।५) इति प्रतिज्ञाय किंचित् साम यजुर्वेदे गीतम्। 'अक्षितमस्यच्युतमसि प्राण-

संशितमसि' (छा० उप० ३।१७।६) इति त्रीणि यजूँषि सामवेदे समाम्नातानि । तथा गीयमानस्य साम्न आश्रयभूता ऋचः सामवेदे समाम्नायन्ते । तस्मात् नास्ति लक्षणमिति चेत्, न, पादादीनामसंकीर्णलक्षणत्वात् । पादेन अर्थेन चोपेता वृत्तबद्धा मन्त्रा ऋचः, गीतिरूपा मन्त्राः सामानि, वृत्तगीतिवर्जितत्वेन प्रश्लिष्टपठिता मन्त्रा यजूँषि इत्युक्ते न क्वापि संकरः ।

अ०—'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः' (हे बुध्निय, जिस मेरे मन्त्र को त्रैविद ऋषि जानते हैं उसकी रक्षा करो ।), ऐसा पढ़ा जाता है । ऋक्, साम, यजुष् इन तीनों वेदों को जो जानते हैं, वे त्रिविद कहलाते हैं । त्रिविदों से अध्ययन करने वाले त्रैविद हैं । और वे जिस मन्त्र भाग को ऋक्, साम, यजुष् के रूप में त्रिविध कहते हैं, उसकी रत्ता करो, ऐसी योजना (इस मन्त्र में) करनी चाहिये । उन त्रिविध ऋक्, साम, यजुष् का व्यवस्थित लत्तण नहीं है क्योंकि सांकर्य का परिहार करना अत्यन्त कठिन है । अध्यापक परम्परा में प्रसिद्ध ऋग्वेदादि में पठित मन्त्र ऋक् आदि हैं, यदि ऐसा लक्षण कहा जाय तो वह संकीर्ण (एक दूसरे से मिला हुआ) होगा—'देवो वः सवितोत्पु''''सूर्यस्य रश्मिभिः' यह मन्त्र यजुर्वेद में सभी प्रकार से सिद्ध यजुषों के मध्य में पढ़ा गया है और वह यजुष् है नहीं क्योंकि उसके ब्राह्मण में 'सावित्र्यर्चा' ऐसा कह कर ऋक् रूप में उसका व्यवहार किया गया है । 'एतत् साम गायन्नास्ते' ऐसी प्रतिज्ञा करके कुछ साम यजुर्वेद में गाये गये हैं । 'अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसि' ये तीन यजुष् सामवेद में पठित हैं । उसी प्रकार गाये जाने वाले साम की आश्रयभूत ऋचायें सामवेद में पढ़ी जाती हैं । अतः ऋक् यजुष् साम का लक्षण ही नहीं है, ऐसा यदि कहें तो नहीं कह सकते क्योंकि पाद आदि के जो लक्षण हैं वे संकीर्ण नहीं हैं । पाद और अर्थ से युक्त छन्दोबद्ध मन्त्र ऋक् हैं, गीतिरूप मन्त्र साम हैं, छन्द और गीति से वर्जितरूप में प्रश्लिष्ट पढ़े गये मन्त्र यजुष् हैं, ऐसा कहने पर कोई भी संकीर्णता नहीं हो सकती ।

तदेतत् त्रैविध्यं जैमिनिना सूत्रत्रयेण लक्षितम्—
'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था'
'गीतिषु सामाख्या'
'शेषे यजुःशब्दः' (जै० सू० २।१।३५–३७) इति ।
एतमेव मन्त्रावान्तरविशेषमुपजीव्य वेदानामृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद इति त्रैविध्यं संपन्नम् ।

अ०—जैमिनि मुनि ने इन तीनों प्रकारों को तीन सूत्रों से लक्षित किया है—'तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' (जिस मन्त्र में अर्थ के अनुसार पाद-

व्यवस्था हो उसे ऋक् कहते हैं), 'गीतिषु सामाख्या' (गाये जाने वाले मन्त्रों को साम कहते हैं) 'शेषे यजुः शब्दः' (शेष मन्त्रों को यजुष् कहते हैं) मन्त्र के इसी अवान्तर भेद को आधार मानकर वेदों के ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद ये तीनों प्रकार सिद्ध होते हैं।

वेदाध्ययन की अवश्यकर्तव्यता

तेषां च वेदानां सर्वेषामन्यतमस्य वा स्वप्रज्ञानुसारेण अध्ययनमुपनीतेन कर्त्तव्यम्। तथा च याज्ञवल्क्यः स्मरति—'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्' इति। एकवेदपक्षे पितृपितामहादिपरंपराप्राप्त एव वेदोऽध्येतव्य इत्यभिप्रेत्य 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (तै० आ० २।१५) इति स्वशब्द आम्नातः। तच्चाध्ययनं न काम्यं किंतु नित्यम्।

अ०—उन सभी वेदों का अथवा उनमें से अन्यतम का, अपनी बुद्धि के अनुसार, उपनीत वटु के द्वारा अध्ययन करना चाहिये। इसी बात को याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा है—'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्'।

एक वेद के अध्ययन के पक्ष में पितृपितामहादि—परम्पराप्राप्त वेद का ही अध्ययन करना चाहिये, इसी अभिप्राय से, 'स्वाध्यायो अध्येतव्यः' इस अध्ययन विधि में स्वशब्द का उल्लेख किया गया है और उस अध्ययन को काम्य (सोद्देश्य) नहीं समझना चाहिये प्रत्युत वह अध्ययन नित्य है।

अतएव पुरुषार्थानुशासने सूत्रितम्—

'वेदस्याध्ययनं नित्यमनध्ययने पातात्' इति। पातित्यं चैवमाम्नायते—'अपहतपाप्मा स्वाध्यायो देवपवित्रं वा एतत्तं योऽनूत्सृजत्यभागो वाचि भवत्यभागो नाके तदेषाभ्युक्ता—यस्तित्याज सखिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति। यदीं शृणोत्यलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थामिति। तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्य. (तै० आ० २।१५) इति। अध्येतारं पुरुषं तदीयप्रयासाभिज्ञानेन सखिवत् पालयतीति सखिविद्वेदः। बहुद्रव्यप्रयाससाध्यक्रतुफलस्याध्ययनमात्रेण संपादनं तत्पालनम्। तदप्याम्नायते—'यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवत्यग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छति' (तै० आ० २।१५) इति।

अ०—इसीलिए पुरुषार्थानुशासन में वह यह सूत्र निबद्ध किया गया है। वेद का अध्ययन नित्य है, अध्ययन न करने से पतित हो जाता है। और वह पातित्य वेद में इस प्रकार कहा गया है—'अपहतपाप्मा स्वाध्यायो देवपवित्रं···· अभागो नाके' (स्वाध्याय अपहतपाप्मा निष्पाप, निर्दुष्ट) है, देवताओं को भी

पवित्र करने वाले उस (स्वाध्याय) को जो छोड़ देता है उसका वाणी में कोई भाग नहीं होता और स्वर्ग में कोई भाग नहीं होता)। इसी अभिप्राय से यह कहा गया है—जिसने मित्र को जानने वाले (अपना मित्र समझने वाले) मित्र को छोड़ दिया उसका वाणी में भाग नहीं होता, वह जो कुछ सुनता है, व्यर्थ सुनता है क्योंकि वह धर्म के मार्ग को नहीं जानता। अतः वेद का अध्ययन करना चाहिये। अध्ययन करने वाले पुरुष को उसके प्रयास की जानकारी करके वेद मित्र की भाँति उसकी रक्षा करता है अतएव वेद को सखिविद् कहा गया और वह वेद की रक्षा और कुछ नहीं है, अपितु बहुत द्रव्य एवं प्रयास से साध्य यज्ञ के फल का अध्ययन मात्र से सम्पन्न कर देना ही है। वह बात भी कही गयी है—'जिस-जिस याग का अध्ययन करता है उस-उस याग से याग करने वाले का अभीष्ट (सिद्ध) होता है और अग्नि, वायु, आदित्य के साथ उसका सायुज्य भी हो जाता है।'

यद्यप्येतत् ब्रह्मयज्ञस्वाध्यायफलं तथापि ग्रहणार्थाध्ययनमन्तरेण ब्रह्मयज्ञासंभवात् तदीयफलमपि संपद्यते। ईदृशं सखिविदं वेदरूपं सखायं यः पुमानध्ययनमकृत्वा परित्यजति तस्य वाच्यपि भाग्यं नास्ति। फले भाग्यं नास्तीति किमु वक्तव्यम्। सकलदेवतानां धर्मस्य परब्रह्मतत्त्वस्य च प्रतिपादकं वेदमनुच्चार्य परनिन्दानृतकलहहेतुं लौकिकीं वार्त्तां सर्वत्रोच्चारयतः स्पष्ट एव वाचि भाग्याभावः। अत एवाम्नायते—'नानुध्यायाद्वहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्'। (बृ० उ० ४।४।२१) इति। यद्यप्यसौ काव्यनाटकादिकं शृणोति तथापि निरर्थकमेव तच्छ्रवणं तेन सुकृतमार्गज्ञानाभावादित्यर्थः। स्मृतिरपि—

योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम्।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ (मनु० २।१६८) इति! एवमन्यान्यपि वहूनि वचनान्यत्रोदाहर्तव्यानि।

अ०—यद्यपि ब्रह्मयज्ञ स्वाध्याय का फल यह है, तथापि ग्रहण के प्रयोजन से जो अध्ययन किया जाता है, उसके बिना ब्रह्मयज्ञ के असम्भव होने के कारण उसका फल भी अध्ययन से सम्न्न हो जाता है। इस प्रकार के मित्र समझने वाले वेदरूप मित्र को जो व्यक्ति अध्ययन किये बिना ही छोड़ देता है उसका वाणी में भाग्य नहीं है। भला, फल में भाग्य नहीं है, इसका तो कहना ही क्या ? सभी देवताओं, धर्म एवं परब्रह्मतत्त्व के प्रतिपादक वेद को बिना पढ़े ही दूसरे की निन्दा, झूठ, कलह आदि के कारणभूत लौकिक बातों को सर्वत्र उच्चारित करने वाले का स्पष्ट ही वाणी में भाग्य का अभाव है। इसीलिए कहा गया है—'नानुध्यायाद् बहून्

शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्' (बहुत शब्दों को नहीं बोलना चाहिए क्योंकि वह वाणी को दुष्ट बनाने वाला है)। यद्यपि यह काव्य नाटक आदि को सुनता है तथापि वह उसका सुनना निरर्थक ही है क्योंकि उस सुनने से धर्म के मार्ग के ज्ञान का अभाव ही होता हैं। स्मृति भी कहती है—जो ब्राह्मण वेदों को न पढ़कर अन्यत्र परिश्रम करता है, वह जीता-जीता ही अपने परिवार के साथ, शीघ्र ही शूद्र हो जाता हैं।

इस प्रसङ्ग में दूसरे बहुत से वचन उदाहृत किये जा सकते हैं।

वेदाध्ययन का फल अर्थ-ज्ञान है या, अक्षर(पद)-ज्ञान मात्र

ननु, अधीते वेदे पश्चात् अध्ययनविध्यर्थज्ञानं, ज्ञाने सति पश्चात् अध्ययनप्रवृत्तिः, इत्यन्योन्याश्रय इति चेत्, बाढम्। अत एव गुरुमतानुसारिणः आचार्यकर्तृकाध्यापनेन प्रवृत्ति माणवकाध्ययनस्य महता प्रयासेन संपादयन्ति। मतान्तरानुसारिणस्तु प्रकाशात्मादयोऽध्ययनात् प्रागेव संध्या-वन्दनादिविधिज्ञानवत् पित्रादिभ्योऽध्ययनविधिज्ञानं वर्णयन्ति। यद्यध्यापनविधिप्रयुक्तिर्यदि वा स्वविधिप्रयुक्तिः सर्वथाप्युपनीतैरध्येतव्य एव वेदः। तस्य च अध्ययनस्य दृष्टार्थत्वम् अक्षरग्रहणान्तत्वं च पुरुषार्थानुशासने सूत्रितम्। तानि सूत्राणि तद्वृत्ति च उदाहरामः—

अ०—यहाँ शङ्का करते हैं कि वेदों का अध्ययन कर लेने के बाद ही 'स्वाध्यायो अध्येतव्यः' इस अध्ययनविधि के अर्थ का ज्ञान होगा और ज्ञान होने पर ही अध्ययन में प्रवृत्ति होगी, इस प्रकार यहाँ अन्योन्याश्रय दोष (एक के ज्ञान होने पर दूसरे का ज्ञान और दूसरे का ज्ञान होने पर ही उसका ज्ञान) उपस्थित होगा। इसका समाधान करते हैं, ठीक है, इसीलिए गुरुमत (प्रभाकरमत) के अनुसरण करने वाले, आचार्य द्वारा किये गये अध्ययनसे माणवक के अध्ययन की प्रवृत्ति को बड़े प्रयास से सम्पादित करते हैं। प्रकाशात्म आदि, दूसरे मत (कुमारिल भट्ट) के मानने वाले तो अध्ययन से पहले ही सन्ध्या-वन्दन आदि विधियोंके ज्ञान की तरह पितृपितामहादि से अध्ययनविधि के ज्ञान के होने का वर्णन करते हैं। चाहे प्रभाकर मतानुयायियों के अनुसार अध्यापनविधि से अथवा कुमारिलभट्ट के अनुयायियों के अनुसार पितृपितामहादिकों से अध्ययनविधि का ज्ञान हो, किन्तु यह बिल्कुल सत्य है कि उपनीत बटुओं द्वारा वेद पढ़ना कर्त्तव्य है और उस अध्ययन का अक्षरग्रहणपर्यन्त दृष्ट-प्रयोजन है, यह पुरुषार्थानुशासन में सूत्रित किया है। उन्हीं सूत्रों तथा उनकी वृत्ति को उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं—

अध्ययनस्य दृष्टार्थत्वं साधयितुं पूर्वपक्षयति—

'अदृष्टार्था त्वधीतिर्विहितत्वात्' इति।

दृष्टफलसाधने भोजनादौ विध्यदर्शनाद् विहितमपि अध्ययनमदृष्टार्थमवगन्तव्यम् । अदृष्टविशेषो न श्रुत इति चेत्, तत्राह—

'घृतकुल्याद्यतिदेशः स्वर्गकल्पनं वा' इति ।

ब्रह्मयज्ञजपाध्ययनार्थवादं नित्याध्ययनेऽतिदिश्य तत्रत्यं घृतकुल्यादिकं रात्रिसत्रन्यायेन फलत्वेन कल्पनीयम् । ये तु अर्थवादातिदेशं नेच्छन्ति तैर्विश्वजिन्नयायेन स्वर्गः कल्पनीयः । दृष्टफलयोः संस्कारप्राप्त्योः संभवे कथमदृष्टकल्पना इत्यत आह—

'अयुक्ते संस्कारप्राप्ती' इति ।

संस्कृतस्वाध्यायस्य क्वचित् क्रतौ विनियोगादर्शनात् प्राप्तेः स्वयं पुरुषार्थत्वाच्च इत्यर्थः ।

अ०—अध्ययन के दृष्टप्रयोजन को सिद्ध करने के लिए पूर्वपक्ष उपस्थित करते हैं—'अदृष्टार्था त्वधीतिर्विहितत्वात्' (अध्ययन अदृष्ट फल के लिए है, क्योंकि यह विहित है ।) । दृष्ट फल के साधनरूप भोजन आदि का विधान नहीं किया गया है । यतः अध्ययन को जिसका विधान किया गया है, अदृष्ट प्रयोजन वाला समझना चाहिये । यदि यह शङ्का करें कि अदृष्टफल विशेष तो कहा नहीं गया है' तो इसका उत्तर देते हैं—'घृतकुल्याद्यतिदेशः स्वर्गकल्पनं वा' (घृतकुल्पा आदि का अतिदेश कर लेना चाहिये अथवा स्वर्ग की कल्पना कर लेनी चाहिये) ।

[1]ब्रह्मयज्ञजप के अध्ययन के अर्थवाद का नित्य अध्ययनविधि में अतिदेश करके

---

१. बात यह है कि कुछ विधिवाक्य जैसे 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' आदि में अदृष्टफल स्पष्टतया कह दिया गया है और कुछ विधिवाक्यों में अदृष्ट फल नहीं कहा गया है, जैसे—स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस प्रस्तुत विधिवाक्य में ही अदृष्ट फल नहीं कहा गया है । यहाँ किसी को भी यह शङ्का हो सकती है कि अदृष्टफल का उल्लेख न होने के कारण इस प्रकार के विधि वाक्यों का कोई अदृष्टफल नहीं होता है । ऐसे स्थलों पर मीमांसकों ने कहा है कि या तो अर्थवाद वाक्यों का अतिदेश करके अदृष्टफल ढूंढ़ लेना चाहिये या यदि अतिदेश पसन्द न हो तो कोई-न-कोई अदृष्टफल अवश्य होगा, ऐसा सोचकर अदृष्टफल की कल्पना कर लेनी चाहिये ।

यतः 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य.' यह अध्ययन विधि है एवं ब्रह्मयज्ञ-अध्ययनविधि भी अध्ययनविधि है और इस अध्ययनविधि के अदृष्टफल को ढूँढ़ने के लिए इसके अर्थवादवाक्य में अदृष्टफल देखा जाता है अतः उसका अतिदेश 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस नित्य अध्ययनविधि में करके अदृष्टफल समझ लिया जाता है । ब्रह्मयज्ञजप के अर्थवाद में फल का निर्देश है—'यदृचोऽधीते पयसः कुल्यास्य पितॄन् स्वधा

वहाँ प्रतिपादित घृतकुल्या आदि की रात्रिसत्रन्याय से फलरूप में कल्पना कर लेनी चाहिये किन्तु जो लोग अर्थवाद का अतिदेश नहीं करना चाहते उन्हें विश्वजित न्याय से स्वर्ग की कल्पना कर लेनी चाहिये। संस्कार और प्राप्ति इन दोनों दृष्ट फलों के सम्भव होने पर भला अदृष्ट फ़ल की कल्पना क्यों करते हैं ? इसका उत्तर देते हैं—'अयुक्ते संस्कारप्राप्ती' (संस्कार और प्राप्ति ये उचित फल नहीं हैं।) किसी भी यज्ञ में संस्कृत स्वाध्याय का विनियोग दिखायी न पड़ने के कारण

अभिवहन्ति; यद् यजूंषि घृतस्य कुल्या, यत् सामानि सोम एभ्यः पवते, यदथर्वाङ्गिरसो मधोः कुल्या"—(तै० आ० २–१०)

इसी तथ्य को सिद्ध करने के लिए रात्रिसत्रन्याय का निदर्शन प्रस्तुत किया गया है। रात्रिसत्रविधि में भी फल का प्रतिपादन नहीं है किन्तु उसके अर्थवाद वाक्य में प्रतिष्ठा रूप फल प्रतिपादित हुआ है—"प्रतितिष्ठन्ति ह वा एते, य एता रात्रीरुपयन्ति" इति ? "ब्रह्मवर्चस्विनोऽन्नादा भवन्ति, य एता उपयन्ति" इति च (ताण्ड्य महाब्राह्मण २३–१४–७)। इस अर्थवाद वाक्य में प्रतिपादित प्रतिष्ठा रूप फल को ही, प्रत्यासन्न होने के कारण रात्रिसत्रविधि का फल मान लिया गया है। यहाँ यह कार्य अतिदेश से हुआ है क्योंकि अन्यत्र प्रतिपादित पदार्थ की अन्यत्र प्राप्ति को अतिदेश कहते हैं।

जो लोग अतिदेश करना नहीं चाहते वे लोग अदृष्टफल को कैसे समझें, इसे समझाने के लिए मीमांसकों ने (४।३।१५—१६) कहा है—"विश्वजिता (यागेन) यजेत" इत्याम्नायते। परमत्र किमपि फलं न श्रूयते; किमपि फलमवश्यं कल्पनीयं, यतो भावना भाव्यमपेक्षते। विश्वजिन्नाम्ना यागेन किं कुर्य्यादित्याकाङ्क्षाया अनिवृत्तेः, अन्यथा निरधिकारत्वाद् अनुष्ठाने विधिर्निरर्थकः स्यात्। स्वर्गस्य दुःखमिश्रितत्वाभावान्निरतिशयसुखत्वाच्च सर्वपुरुषाणामिष्टत्वात् स्वर्ग एव विश्वजितः फलम्।'

'विश्वजिता यजेत' ईस विधि वाक्य का फल नहीं बताया गया है। फल न होने से यह व्यर्थ हो जायेगा। और वेद व्यर्थ है नहीं, इस पर मीमांसकों ने यह कहा कि ऐसी स्थिति में इसका फल स्वर्ग ही मान लेना चाहिए क्योंकि स्वर्ग सभी दुःखों से रहित और निरतिशय सुख से युक्त होने के कारण सभी को इष्ट है। जबकि 'पुत्रकामो यजेत', 'पशुकामो यजेत' इत्यादि स्थलों में सम्भव है किसी को पुत्र और पशु इष्ट न भी हों; इसी विश्वजित याग के उदाहरण को प्रस्तुत करके मीमांसकों ने नित्य अध्ययन का फल भी स्वर्ग ही मान लेने की राय दी है जिससे अदृष्ट फल की प्राप्ति होने के कारण 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) यह विधि वाक्य निष्फल न होने पाये।

और स्वयं प्राप्ति के पुरुषार्थ न होने के कारण (ये दोनों) अध्ययन के फल उचित नहीं हैं।

स्वाध्यायप्राप्तिरर्थप्रमितिहेतुतया पुरुषार्थ इत्याशङ्क्य विषनिर्हरणादिकार्यविनियुक्तमन्त्रवद् अध्ययनाङ्गतया विनियुक्तानां ज्योतिष्टोमादिवाक्यानां न स्वार्थे प्रामाण्यमित्याह—

'अन्याङ्गं नार्थप्रमापकम्' इति।

अध्ययनविधायकं तु वाक्यं स्वविहिताध्ययनस्यैव अङ्गमिति कृत्वा स्वार्थप्रमाणमित्याह—

'अध्ययनवाक्यमनन्याङ्गम्' इति।

अ०—अर्थप्रमिति का हेतु होने के कारण स्वाध्याय की प्राप्ति पुरुषार्थ है यदि ऐसी शंका करें तो नहीं कर सकते, क्योंकि विषनिर्हरणरूप कार्य में विनियुक्त मन्त्रों की तरह अध्ययन के अंगरूप में विनियुक्त ज्योतिष्टोम आदि वाक्यों का स्वार्थ में प्रामाण्य नहीं होता है—'अन्याङ्गं नार्थप्रमापकम्' इति (अन्य का अङ्ग अपने अर्थ का प्रमापक नहीं होता)।

अध्ययन विधायक वाक्य तो अपने द्वारा विहित अध्ययन का ही अङ्ग है और इसप्रकार वह अपने अर्थ में प्रमाण है—'अध्ययनवाक्यमनन्याङ्गम्' (अध्ययन वाक्य अन्य का अंग नहीं है। जो अन्य का अंग होता है वह अपने अर्थ का प्रमापक भले न हो किन्तु जो अन्य का अंग नहीं होता उसका प्रामाण्य होता है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह विधिवाक्य अपने द्वारा विहित अध्ययन का अंग होने के कारण प्रमापक है ही।)।

ननु एवमदृष्टार्थत्वे कर्मकारकभूतस्वाध्यायगतफलाभावाद् 'अध्येतव्यः' इति कर्मवाची तव्यप्रत्ययो विरुध्येत, इत्यत आह—

'सक्तुवत् करणपरिणामः' इति।

'सक्तूञ्जुहोति' इत्यत्र कर्मत्वेन प्रधानभूतान् सक्तून् उद्दिश्य होमसंस्कारविधाने प्रतीयमानेऽपि होमसंस्कृतानां भस्मीभूतानां सक्तूनामन्यत्र विनियोगाभावात् कर्मप्राधान्यं हित्वा सक्तुभिर्जुहोतीति करणपरिणामः कृतः। एवमत्रापि कर्मगतयोः संस्कारप्राप्त्योरसंभवात् स्वाध्यायेन अधीयीत इति वाक्यपरिणामः कर्तव्यः।

अ०—पूर्वपक्षी कहते हैं कि इस प्रकार 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिवाक्य का अदृष्टफल मान लेने पर कर्मकारकभूत स्वाध्याय में फल न रहने के कारण ,अध्येतव्यः' में जो कर्मवाची 'तव्य' प्रत्यय है उसका कोई औचित्य नहीं रह

जायेगा।[१] इसका उत्तर देते हैं—[२]'सक्तुवत् करण-परिणामः' (सक्तु की तरह करण में परिणाम कर लेना चाहिये)।

'सक्तून्जुहोति' इस वाक्य में प्रधानभूत सक्तु को उद्देश्य करके होम संस्कार विधान की प्रतीति होने पर भी होम से संस्कृत भस्मीभूत सक्तु का अन्यत्र विनियोग न हो सकने के कारण की प्रधानता को छोड़कर 'सक्तुभिर्जहोति' इस

---

१. 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि वाक्य में दो पद हैं—स्वाध्याय, जिसका अर्थ है पितृपितामह आदि की परम्परा से प्राप्त वेद, और अध्येतव्यः में इङ् अध्ययने धातु से, जो सर्वदा अधिउपसर्गपूर्वक ही रहता है, कर्म अर्थ में तव्य प्रत्यय है। जो प्रत्यय कर्म में होते हैं उनका अर्थ स्वभावतः कर्म होता है। जब स्वाध्याय से संस्कार या प्राप्ति (अक्षरज्ञान) अर्थ लेते हैं और इस-प्रकार दृष्टफल मानते हैं तब तो इङ् अध्ययने धातु के फल का आश्रय होने के कारण स्वाध्याय कर्म रहता है और तव्य प्रत्यय की सार्थकता सिद्ध होती है। यदि अदृष्टफल मानें तो इस फल का आश्रय स्वाध्याय नहीं है। अतः वह फल का आश्रय भी नहीं और इस प्रकार तव्य प्रत्यय की सार्थकता नहीं सिद्ध हो सकती। यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि वैयाकरण लोग धातु का अर्थ व्यापार और फल मानते हैं और मीमांसक केवल फल। किसी भी स्थिति में फल का आश्रय ही कर्म होता है। अदृष्टफल मानने पर स्वाध्याय फल का आश्रय नहीं है। वस्तुतः इस वाक्य में धातु का अर्थ अध्ययन अर्थात् गुरुमुखोच्चारणपूर्वक-में शिष्यानुच्चारण और तव्य का अर्थ आर्थी भावना है। उस आर्थी भावना में स्वाध्याय का कर्मरूप में और अध्ययन का करणरूप में अध्ययन होता है। इस प्रकार 'अध्ययनेन स्वाध्यायं भावयेत्' अर्थ प्राप्त होता है।

२. अदृष्टफल मानने वाले के पक्ष में कर्मवाची तव्य प्रत्यय का जो विरोध दिखलाया गया उसका उत्तर इस प्रकार है—'सक्तून्जुहोति' इस वाक्य से 'होमेन सक्तून् संस्कुर्यात्' अर्थात् सक्तु को उद्देश्य करके होम संस्कार का विधान किया गया है, किन्तु होम संस्कार से, निश्चय ही, सक्तु भस्म हो जायगा और उस भस्म से उत्तर क्रतु में उसके विनियोग का प्रश्न ही नहीं उठेगा। ऐसी स्थिति में दृष्टफलवादी और अदृष्टफलवादी—दोनों सक्तु के कर्मप्राधान्य को छोड़कर उसका करण विपरिणाम करते हैं और 'सक्तुभिः जुहोति', 'सक्तुभिः होमम् भावयेत्' ऐसा वाक्यार्थ मानते हैं। इसीप्रकार स्वाध्याय के कर्मप्राधान्य को छोड़कर करण में विपरिणाम कर लेना चाहिये। 'स्वाध्यायेन अधीयीत—स्वाध्यायेन अध्ययनं भावयेत्, अध्ययनेन अदृष्टं भावयेत्, ऐसा अर्थ प्राप्त हो जाने के कारण कोई विप्रतिपत्ति नहीं रह जायेगी।

प्रकार करण परिणाम कर लिया गया है। इसी प्रकार यहाँ भी कर्म में रहनेवाले संस्कार और प्राप्ति के असंभव होने के कारण 'स्वाध्यायेन अधीयीत' इस प्रकार वाक्य परिणाम कर लेना चाहिये।

इदानीं दृष्टफले सति अदृष्टफलं न कल्प्यमिति सिद्धान्तयति—

'दृष्टे तु नादृष्टम्' इति।

किं तद् दृष्टफलमिति तदाह—

'दृष्टौ प्राप्तिसंस्कारौ' इति।

अक्षरप्राप्तेः परम्परया पुरुषार्थत्वमाह—

'प्राप्त्यार्थबोधः' इति।

न च भोजनादिवद् अन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वाद् विधिवैयर्थ्यमिति शङ्कनीयम्। अवघातादिवन्नियमादृष्टाय विध्युपपत्तेरित्याह—

'विधिर्निष्पत्त्याः' इति।

अ०—अब इस सिद्धान्त को स्थिर करते हैं कि दृष्टफल होने पर अदृष्ट फल की कल्पना नहीं करनी चाहिये क्योंकि लिखा है कि 'दृष्ट फल होने पर अदृष्ट नहीं।' भला वह दृष्टफल क्या है, इसे बताते हैं—'दृष्ट फ़ल प्राप्ति और संस्कार हैं।' साक्षात् तो नहीं अपितु परम्परया 'प्राप्ति से अर्थबोध उत्पन्न होता है' इस नियम के मानने पर यह सुतरां सिद्ध है कि उस बोध में (अक्षर) प्राप्ति कारण है अतः बोध की तरह ही अक्षर प्राप्ति को पुरुषार्थ मानते हैं। 'अन्वय व्यतिरेक से सिद्ध होने के कारण भोजन[1] आदि की तरह विधिवाक्य व्यर्थ हैं', ऐसी शङ्का

---

१. जिस प्रकार भोजन करने से तृप्ति होती है (अन्वय), भोजन न करने से तृप्ति नहीं होती है (व्यतिरेक); यह अन्वय व्यतिरेक से ही सिद्ध हो जाने के कारण भोजन के लिए विधि व्यर्थ है उसी प्रकार अध्ययन करने से अक्षर प्राप्ति होती है (अन्वय) न करने से अक्षर प्राप्ति नहीं होती है (व्यतिरेक) यह अन्वयव्यतिरेक से ही सिद्ध हो जाने के कारण अक्षर प्राप्ति के लिए अध्ययनविधि व्यर्थ है, यह शङ्का करने वाले का आशय है। इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि जिस प्रकार 'व्रीहीन् अवहन्ति' इस विधिवाक्य में धान को तण्डुल बनाने के लिए नख से, पत्थर आदि से और अवहनन (कूटने) से भूसे को अलग किया जा सकता है किन्तु इस स्थिति में भी अवघात (कूटने) का ही विधान है क्योंकि दूसरे किसी उपाय से भूसे को हटाकर तण्डुल बनाने पर अदृष्ट नहीं बनता और अवहनन से तण्डुल बनाने पर अदृष्ट होता है तथा यद्यपि अवहनन सर्वथा बाधित नहीं था प्रत्युत उसकी भी प्राप्ति थी ही उसी प्रकार अध्ययन लिखित पाठ से और गुरुमुख से दोनों से सम्भव है किन्तु 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि वाक्य से

नहीं करनी चाहिये क्योंकि वे विधिवाक्य अवघात आदि की तरह नियमादृष्ट अथवा नियमापूर्व के लिए हैं। अतः उपपन्न हैं। इसी वात को कहते हैं—'विधि-'निष्पत्त्याः' अर्थात् 'विधि की निष्पत्ति हो जाने के कारण।'

यत्तूक्तं संस्कृतस्य स्वाध्यायस्य विनियोगादर्शनान्न संस्कार इति, तत्राह—

'संस्कारसिद्धिः क्रत्वध्ययनविधिद्वयोपादानात्' इति।

क्रतुविधयो हि विषयावबोधमपेक्षमाणास्तदवबोधे स्वाध्यायं विनियुञ्जते। अध्ययनविधिश्च लिखितपाठादिव्यावृत्त्या अध्ययनसंस्कृतत्वं स्वाध्यायस्य गमयति। अत उभयोपादानात् तत्सिद्धिः।

अ०—संस्कार-सम्पन्न स्वाध्याय के विनियोग के न देखे जाने (अनुपलब्ध होने) के कारण संस्कार नहीं है, ऐसा जो कहा गया है उस विषय में कहते हैं—'क्रतुविधि और अध्ययन विधि इन दोनों के उपादान से संस्कार की सिद्धि होती है।' विषय के ज्ञान की अपेक्षा रखनेवाली क्रतुविधियाँ उसके ज्ञान में स्वाध्याय का विनियोग करती हैं और अध्ययन विधि, लिखित पाठ आदि की व्यावृत्ति के द्वारा स्वाध्याय अध्ययन संस्कृत होता है, इसे जनाती हैं। अतः उन दोनों के उपादान से उसकी (संस्कार की) सिद्धि होती है। (वात यह है कि समस्त यागविधियाँ तभी सम्पन्न की जा सकती हैं जब उनके विषय का स्पष्ट ज्ञान हो और विषय के सम्यग्ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि वेद का अध्ययन भी सम्यग् हो। जैसे 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इसका अर्थ ज्योतिष्टोम याग के सम्पादन में उसके विधान आदि का सम्यग् ज्ञान वेद के अध्ययन से ही सम्भव है। वह अध्ययन लिखित पाठ से भी हो सकता है और गुरुमुख से भी हो सकता है किन्तु जैसा कि पहले बताया जा चुका है गुरुमुख से अध्ययन को ही अदृष्ट का प्रतिपादक सिद्ध किया जा चुका है। इस प्रकार स्वाध्याय का संस्कृतत्व और संस्कृत स्वाध्याय का विनियोग स्पष्टतः सिद्ध है। अतः संस्कृत स्वाध्याय का विनियोग नहीं। इसप्रकार अक्षर प्राप्ति की तरह संस्कार भी दृष्टि फल है।)।

ननु संस्कारो नाम अदृष्टातिशयः। स च न स्वाध्यायगतः, तव्यप्रत्ययेन स्वपदोपात्तप्रकृत्यर्थभूताध्ययनोपरक्तापूर्वाभिधानात्। ततः कथं

गुरुमुख से अध्ययन का ही नियम माना जाता है क्योंकि इसी से अदृष्ट बनता है। इसे ही नियमादृष्ट या नियमापूर्व कहते हैं। यहाँ पर भी गुरुमुख से अध्ययन सर्वथा अप्राप्त नहीं था अपितु प्राप्त था ही। प्राप्त वस्तु में ही यह नियम विधान है।

स्वाध्यायस्य संस्कृतत्वम् इति, तत्राह ।

'तव्यः कर्मगादृष्टवाची' इति ।

अत्र तव्यप्रत्ययस्य कर्माभिधायितया कर्मकारकस्य स्वाध्यायस्य तव्यप्रत्ययं प्रति प्रकृत्यर्थादध्ययनादपि प्रत्यासन्नत्वात् स्वाध्यायगतमेव अपूर्वं तव्यप्रत्ययो वक्ति, अपूर्वस्य धात्वर्थजन्यत्वनियमेऽपि तदुपरक्तत्वानियमादिति भावः ।

अ०—पूर्वपक्षी शङ्का करते हैं कि संस्कार कोई नयी वस्तु तो है नहीं, अपितु अदृष्ट विशेष को ही संस्कार कहते हैं और वह संस्कार स्वाध्यायगत नहीं है क्योंकि (तव्यप्रत्यय से ही अदृष्ट का अभिधान होता है) तव्यप्रत्यय से अपने पद (अध्येतव्यः = अधि + इङ् + तव्य + सु) में उपात्त प्रकृत्यर्थ (इङ्धात्वर्थ) रूप अध्ययन से उपरक्त (सम्बद्ध) अपूर्व का ही अभिधान होता है । तो भला स्वाध्याय का संस्कृतत्व कैसे सिद्ध किया जा सकता है, इस पर कहते हैं—'तव्य प्रत्यय कर्मगत अदृष्ट का द्योतक है ।' 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि वाक्य में तव्य प्रत्यय कर्माभिधायी है इसीलिए कर्मकारक स्वाध्याय के तव्य प्रत्यय के प्रकृत्यर्थ (इङ् धात्वर्थ) अध्ययन से भी, सन्निकट होने के कारण, तव्य प्रत्यय स्वाध्यायगत (कर्मकारकगत) अपूर्व को ही कहता है ('स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह विधि वाक्य कर्मवाच्य में है । तव्य प्रत्यय से कर्म उक्त है । तव्य प्रत्यय अदृष्ट का द्योतक है । यहाँ प्रश्न यह है कि यह तव्य प्रत्यय सन्निकट होने के कारण 'अध्येतव्यः' पदोपात्त प्रकृत्यर्थ अध्ययनगत अदृष्ट का द्योतक है या स्वाध्यायगत अदृष्ट का। पूर्वपक्षी कहते हैं कि एकपदोपात्त होने के कारण तव्य प्रत्यय अपने प्रकृत्यर्थ (अधि + इङ्धात्वर्थ) के सन्निकट है अतः अध्ययनगत अदृष्ट का ही द्योतक है । इसी पर उत्तरपक्षी कहते हैं कि वह तव्य प्रत्यय एक पदोपात्त होने के कारण अपने प्रकृत्यर्थभूत अध्ययन के सन्निकट है, यह कहना उचित नहीं । वह तव्य प्रत्यय तो कर्म कारक का अभिधायक होने के कारण कर्मकारक स्वाध्याय के, अपने प्रकृत्यर्थभूत अध्ययन की तुलना में अधिक सन्निकट है और इस प्रकार तव्य प्रत्यय स्वाध्यायगत अदृष्ट को ही कहता है । ऐसी स्थिति में स्वाध्याय का संस्कृतत्व स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है ।) यद्यपि अपूर्व धात्वर्थ जन्य होता है ऐसा नियम है तथापि वह सन्निकट भी होता है ऐसा कोई नियम नहीं है ।

यच्चोक्तम् 'अन्याङ्गं नार्थप्रमापकम्' इति, तदसत्, यतो मन्त्राणां स्वतन्त्रादृष्टशेषाणां तथात्वं युज्यते । इह तु स्वाध्यायाश्रितमदृष्टं; तस्य च स्वाध्यायगताक्षरसामर्थ्यसिद्धार्थाववोधे फले सति फलान्तरकल्पनायो-

गात् प्रामाण्यस्य उपवृंहकमेव अदृष्टं, न तु प्रतिबन्धकमित्याह—

'स्वतन्त्रादृष्टाशेषत्वान्न स्वार्थप्रमा प्रतिबध्यते' इति।

अ०—और जो यह कहा गया है कि 'जो दूसरे का अङ्ग होता है वह अर्थका प्रमापक (अर्थ में प्रमाण) नहीं होता', वह उचित नहीं है क्योंकि यदि मन्त्र स्वतन्त्र रूप से (सर्वथा) अदृष्ट के अङ्ग होते तो वे अर्थ के प्रमापक न होते किन्तु मन्त्रों के प्रसंग में तो (ऐसा समझना चाहिये) अदृष्ट स्वाध्याय के आश्रित हैं; और स्वाध्यायगत अक्षरों के सामर्थ्य से सिद्ध अर्थबोधरूप फल के रहने पर दूसरे फल की कल्पना के अनुचित होने के कारण अदृष्ट मन्त्रों का स्वार्थ होता है इसमें उस प्रामाण्य का उपवृंहक ही है न कि प्रतिबन्धक। इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए सूत्र लिखते हैं—'स्वतन्त्र अदृष्ट का अंग न होने के कारण (मन्त्रों के) स्वार्थ का प्रामाण्य प्रतिबद्ध (बाधित) नहीं होता है' (यहाँ शङ्का करनेवाले का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शाबर आदि मन्त्रों से उन-उन कार्यों की सिद्धि होने के अतिरिक्त उन मन्त्रों के अर्थ का कोई प्रामाण्य नहीं है उसी प्रकार वेदों के मन्त्रों का, अध्ययन का अंग होने के कारण, भी स्वार्थ में प्रामाण्य नहीं है। इस पर समाधान यह है कि यदि वस्तुतः ये मन्त्र स्वतन्त्र अदृष्ट के अंग हों तो इनका प्रामाण्य न हो किन्तु ऐसी स्थिति है नहीं। होता यह है कि अध्ययन से अदृष्ट होता है, जो मन्त्रसमुदायरूप स्वार्थ पर ही आश्रित है और जब अदृष्ट स्वयं मन्त्रसमुदायरूप स्वाध्याय पर आश्रित है तो भला अदृष्ट के अंग मन्त्र कैसे हो सकते हैं ? दूसरी बात यह भी है कि स्वाध्यायगत अक्षरों के सामर्थ्य से अर्थबोध रूप फल के सिद्ध होने से जब दृष्टफल सिद्ध ही हो जाता है तो अदृष्ट फल की कल्पना नहीं की जा सकती, साथ ही यह भी समझना चाहिये कि स्वाध्याय के आश्रित रहने वाला अदृष्ट मन्त्रों के अर्थ की पुष्टि ही करता है न कि उसमें विघ्न डालता है।)

सक्तुन्यायेन कर्मकारकप्राधान्ये परित्यक्ते स्वतन्त्रादृष्टमेव अत्रापि स्यादित्यत्राह—

'यथाश्रुतोपपत्तेर्न सक्तुन्यायः' इति।

सक्तुषु गत्यभावात् श्रुतं परित्यज्य अश्रुतं कल्प्यतां नाम। नेह तद् युक्तं, प्रदर्शितत्वादित्यर्थः।

अ०—सक्तुन्याय से कर्मकारक की प्रधानता को छोड़ने पर स्वतन्त्र अदृष्ट ही यहाँ भी हो जायेगा ऐसी शंका होने पर कहते हैं—यथाश्रुत के ही उपपन्न हो जाने पर सक्तुन्याय नहीं प्रवृत्त होता है। सक्तुओं में तो कोई अन्य गति न होने के कारण श्रुत को छोड़कर अश्रुत की कल्पना की जाती है, सो कीजिये

किन्तु जैसा कि पहले दिखला दिया गया है, इस प्रसंग में वह (श्रुत को छोड़कर अश्रुत की कल्पना) उचित नहीं है। (तात्पर्य यह है कि 'सक्तून्जुहोति' इस यथाश्रुत को ही उचित मानकर हवन विधान करने पर सक्तु को भस्म हो जाने पर उस भस्म का आगे होने वाले किसी याग में विनियोग नहीं हो सकता। इस विवशता में 'सक्तून्' के कर्मकारक को बदलकर 'सक्तुभिः' इस करण कारक में कर लिया जाता है। पूर्वपक्षी का कहना है कि इसी प्रकार 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यहाँ पर भी 'स्वाध्यायः' इस कर्मकारक को 'स्वाध्यायेन अधीयीत' इस करण कारक में विपरिणाम कर लेना चाहिये और इस प्रकार जो यह समाधान दिया गया था कि 'तव्य प्रत्यय कर्मकारक स्वाध्याय-गत अदृष्ट को करता है' इसका कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा और इसके परिणामस्वरूप स्वतन्त्र अदृष्ट ही फल होने लगेगा तथा ऐसा होने पर मन्त्र अदृष्ट के अङ्ग होने लगेंगे और इस प्रकार के मन्त्र अपने अर्थों में प्रमाण नहीं हो सकते। इसका समाधान करते हैं कि सक्तु-न्याय में तो, जैसा कि अनुवाद से स्पष्ट है, कर्मकारक का करण कारक में विपरिणाम अगतिकगति है किन्तु 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यादि स्थलों में ऐसी कोई विवशता नहीं है। यहाँ स्वाध्याय का अध्ययन हो जाने पर स्वाध्याय (वेद) सक्तु की भाँति आगे होने वाले याग में व्यर्थ नहीं हो जाता प्रत्युत उसकी सार्थकता सर्वथा बनी रहती है)।

इत्थमध्ययनविधेर्दृष्टार्थत्वं प्रसाध्य अर्थाववोधपर्यन्ततां निराकर्तुं पूर्वपक्षयति।

'वैधमर्थनिर्णयं भट्टगुरू विधेः पुमर्थावसानात्' इति।

सर्वत्र विधेः पुरुषार्थपर्यवसायित्वनियमाद् अत्रापि पुरुषार्थभूतं फलवदर्थनिश्चयमध्ययनविधिप्रयुक्तं भट्टगुरू मन्येते।

अ०—इस प्रकार अध्ययन विधि दृष्ट प्रयोजन के लिए है, ऐसा सिद्ध करके (वह अध्ययन विधि) अर्थज्ञानपर्यन्त होती है, इसका निराकरण करने के लिए पूर्वपक्ष उपस्थित करते हैं—

कुमारिल भट्ट और प्रभाकर गुरु, विधि का पर्यवसान पुरुषार्थ में होता है इसलिए अर्थनिर्णय भी विधि से मानते हैं। सर्वत्र विधि का पुरुषार्थ में ही पर्यवसान होता है, इस नियम से यहाँ भी पुरुषार्थभूत फलवान् अर्थनिश्चय अध्ययन-विधि प्रयुक्त ही है, ऐसा भट्ट और गुरु का मत है (तात्पर्य यह है कि कुछ लोग अध्ययनविधि को अक्षरग्रहणमात्र पर्यवसायी (अर्थात् अक्षरग्रहण हो जाने पर अध्ययन विधि की कृतकृत्यता) और भट्ट और गुरु अक्षरग्रहणमात्र ही नहीं अपितु अक्षरग्रहण के माध्यम से अर्थबोध पर्यन्त पर्यवसायी मानते हैं)।

ननु सकृदध्ययनाद् आवृत्तिसहिताद् वार्थनिश्चयो नोपलभ्यते इत्याशङ्क्य, तथा सति तत्सिद्धये सोऽध्ययनविधिरर्थनिश्चयहेतुं विचारं कल्पयिष्यति, इत्याह—

'स विचारमाक्षिपेद्' इति ।

अ०—एक बार या आवृत्ति सहित अध्ययन करने से अर्थनिश्चय नहीं होता है, ऐसी शंका करके पूर्वपक्षी कहते हैं कि उसकी (अर्थनिश्चय) सिद्धि के लिए वह अध्ययनविधि अर्थनिश्चय के हेतुभूत विचार (मीमांसाशास्त्र) की कल्पना कर लेगा, इसे कहते हैं—

वह विचार (मीमांसाशास्त्र) का आक्षेप कर ले ।

ननु स्वविधेयतदुपकारिणोरेव विधिः प्रयोजक इति सर्वत्र नियमः, तथा सति, अतादृशं कथमत्र अध्ययनविधिराक्षेप्स्यतीत्याह—

'अविधेयानुपकार्याक्षेपोऽवघातावृत्तिवत्' इति ।

'व्रीहीन् अवहन्ति' इत्यत्र अवघातमात्रं विधेयं न तु तदावृत्तिः, तस्या अधात्वर्थत्वात् । नापि सा विधेयोपकारिणी, अन्तरेण आवृत्तिं सकृन्मुसलघातमात्रादवघातसिद्धेः तथापि तण्डुलनिष्पत्तिफलसिद्धये स विधिरावृत्तिं यद्वद् आचिक्षेप तद्वत् प्रकृतेऽपि अवगन्तव्यम् ।

अ०—शङ्का होती है कि विधिवाक्य अपने विधेय और अपने उपकारी के ही प्रयोजक होते हैं यह सार्वत्रिक नियम है और ऐसा होने पर विधेय और उपकारी को छोड़कर भला, अन्य का अध्ययनविधि कैसे आक्षेप करेगी; इस पर कहते हैं—

अवघात की आवृत्ति की भाँति अविधेय और अनुपकारी का भी आक्षेप विधि कर लेती है । 'व्रीहीन् अवहन्ति' इस विधिवाक्य में अवघात मात्र विधेय है न कि उसकी आवृत्ति, क्योंकि आवृत्ति धातु का अर्थ नहीं है और एक बार ही मुसल के घातमात्र से आवृत्ति के बिना भी अवघात की सिद्धि हो जाने के कारण वह आवृत्ति विधेय की उपकारिणी भी नहीं है तथापि तण्डुलनिष्पत्तिरूप फल की सिद्धि के लिए उस विधि ने जिस प्रकार आवृत्ति का आक्षेप किया उसी प्रकार इस प्रकरण में भी समझना चाहिये ।

ननु वेदमात्राध्यायिनोऽर्थावबोधानुदयेऽपि व्याकरणाद्यङ्गसहितवेदाध्यायिनस्तदुदयसद्भावात् तं प्रति व्यर्थं विचारं विधिर्न कल्पयेदित्याशङ्क्य-अर्थगतविरोधपरिहाराय अपेक्षित एव विचार इत्याह—

'साङ्गाध्ययनात् तद्भावे विचारोऽर्थविरोधापनुत्' इति ।

अ०—शङ्का करते हैं कि वेदमात्र के अध्ययन करने वाले के लिए अर्थबोध भले ही न हो किन्तु व्याकरण आदि अङ्ग सहित वेद के अध्ययन करने वाले के

लिए तो अर्थबोध होता ही है, अतः उसके प्रति विधि व्यर्थ मीमांसशास्त्र की कल्पना नहीं करेगी, ऐसी शङ्का करके अर्थगत विरोध के परिहार के लिए मीमांसा-शास्त्र अपेक्षित ही है, इसे ही कहते हैं—

अङ्गसहित अध्ययन से अर्थबोध होने पर भी मीमांसाशास्त्र अर्थ विरोध का अपवारण करने वाला है। तात्पर्य यह है कि व्याकरण आदि छह अंगों के साथ वेद का अध्ययन करने से वेद का सम्यग् अर्थबोध हो जाता है फिर भी उन अर्थों में जहाँ कहीं विरोध आ जाता है उसका अपवारण करने के लिए मीमांसाशास्त्र परमावश्यक है। वैसे स्थल पर व्याकरण आदि कुछ भी सहायता नहीं कर सकते हैं। जैसे 'अक्ताः शर्करा उपदधाति' आदि वाक्यों में शर्करा को किसी भी तरल पदार्थ से गीला किया जा सकता है किन्तु 'तेजो वै घृतम्' इस वाक्य शेष के आधार पर मीमांसाशास्त्र ही बताता है कि शर्करा को घृत (घी) से गीला किया जाय न कि जल, तैल आदि से। यह निर्णय मीमांसाशास्त्र ही कर सकता है न कि व्याकरण शास्त्र। स्वयं महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण का प्रयोजन बताते हुए विभक्ति विपरिणाम करने की चर्चा चलायी है। विभक्ति का ज्ञान तो वैयाकरण कर सकता है किन्तु किस विभक्ति को किस विभक्ति में बदला जाय यह मीमांसा-शास्त्र ही बतलायेगा जैसे पूर्वप्रदत्त उदाहरण 'सक्तून्जुहोति' इस वाक्य में 'सक्तून्' इस कर्म को 'सक्तुभिः' इस करण कारक में विपरिणाम करने को मीमांसाशास्त्र ही कहेगा अन्यथा वैयाकरण यह तो बतला देगा कि 'सक्तून्' का सक्तुभिः यह शुद्ध रूप करण कारक में है किन्तु यह नहीं बतला सकता कि 'सक्तुभिः' ही क्यों 'सक्तूनाम्' 'सक्तुषु' क्यों नहीं। अतः 'व्यर्थं विचारं विधिः न कल्पयेत्' यह कहना उचित नहीं है।)।

अक्षर-ग्रहण पर्यन्तता सिद्धान्त का समर्थन

सिद्धान्तयति—

'प्राप्तेस्तु गवादिवत् पुमर्थत्वाद् विधिस्तदन्तः' इति।

तथा फलभूतस्य क्षीरादेर्हेतवो गवादयोऽपि पुरुषैरर्थ्यन्ते, तथा फल-वदर्थावबोधहेतोरक्षरप्राप्तेरपि पुरुषार्थत्वात् अध्ययनविधिरक्षरप्राप्त्यवसा-नोऽवगन्तव्यः।

अ०—सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं—गो आदि की तरह प्राप्ति का भी पुरुषार्थ होने से (अध्ययन–) विधि तदन्त (अक्षर प्राप्ति पर्यन्त पर्यवसायी) है। जिस प्रकार फलभूतक्षीर आदि के हेतुभूत गाय आदि भी पुरुषार्थ के रूप में पुरुषों द्वारा देखी जाती हैं, उसी प्रकार फलवाले अर्थबोध के हेतुभूत अक्षर प्राप्ति के भी पुरुषार्थ होने के कारण अध्ययनविधि को अक्षरप्राप्त्यवसायी जानना चाहिये।

ननु अक्षरप्राप्तेः पुरुषार्थत्वं फलवदर्थावबोधप्रयुक्तं चेत् तर्हि तद्बोधस्य मुख्यपुरुषार्थत्वाद् बोधान्त एव विधिः किं न स्यादित्यत आह—

फलवद्बोधान्तत्वेऽध्ययनाकात्स्‍र्न्यम्' इति ।

बोधस्य हि फलं कर्मानुष्ठानम् । तथा सति यस्य ब्राह्मणादेर्यस्मिन् बृहस्पतिसवादौ अधिकारस्तस्य तद्वाक्यमात्राध्ययनं स्यात्, न तु राजसूयादिवाक्याध्यनम्, तत्र प्रवृत्त्यादिफलाभावात् ।

अ०—शङ्का करते हैं कि अक्षर प्राप्ति की पुरुषार्थता यदि फलवाले अर्थबोध के कारण ही है तव तो उस बोध के ही मुख्य पुरुषार्थ होने के कारण क्यों नहीं वोधपर्यन्त ही अध्ययन विधि मानी जाय ? इसका उत्तर देते हैं कि फलयुक्त-बोध पर्यवसायी मानने पर (अध्ययनविधि अर्थबोध फल की प्राप्ति तक चलती है ऐसा मानने पर) अध्ययन की असमग्रता हो जायेगी । निश्चय ही बोध का फल कर्मानुष्ठान है । इस प्रकार जिस ब्राह्मण आदि का जिस वृहस्पति सवादि में अधिकार है उसका अध्ययन उस वाक्य मात्र तक ही होगा, न कि राजसूय आदि वाक्यों का अध्ययन क्योंकि उनमें प्रवृत्ति आदि फल का अभाव है ।

'स्वपक्षे तु नायं दोष' इत्याह—

'कृत्स्नप्राप्तिर्जपार्था' इति ।

न च अबोधकत्वे अर्थावबोध एव न सिध्येदिति शङ्कनीयम् प्रमाणस्य-प्रमेयबोधकत्वस्वाभाव्यात्, लौकिकाप्तवाक्यानामन्तरेणैव विधिबोधकत्व-दर्शनादित्याह—

'लोकवन्नैजो बोधः' इति ।

अ०—अपने पक्ष में तो यह दोष नहीं है, इसे कहते हैं—जप के लिए सम्पूर्ण वेद की प्राप्ति करनी चाहिए । अध्ययन विधि को अर्थावबोध का अबोधक मानने पर तो किसी तरह भी अर्थावबोध सिद्ध न होगा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि यह सभी को विदित है कि स्वभाव से ही प्रमाण प्रमेयबोधक होता है जिस प्रकार किसी विधिवाक्य के बिना ही लौकिक वाक्यों की बोधकता देखी ही जाती है । इसे ही कहते हैं—

लोक की तरह बोध स्वाभाविक है ।

ननु बोधस्य विधिफलत्वे बोधकाममुद्दिश्य विधातुं शक्यत्वात् सुलभोऽधिकारी स्यादित्याशङ्क्य, प्राप्तिपक्षेऽपि प्राप्तिकाम उपनीताष्टवर्ष-ब्राह्मणोऽत्राधिकारी सुलभ एव इति परिहारं स्पष्टत्वादुपेक्ष्य बोधस्य काम्यत्वं दूषयति—

'सोऽकाम्यः प्राग्बोध्यभानाभानयोः' इति ।

बोध्यस्य अग्निहोत्रादिलक्षणवेदार्थस्य अध्ययनात् प्राक् संध्योपासनादिवत् पित्राद्युपदेशत एव भाने सिद्धत्वादेव सोऽर्थबोधो न काम्यः। अभाने कामयितुमशक्यः, ज्ञाते एव विषये कामनानियमात्।

अ०—यदि बोध को विधि का फल मानें तब तो बोध की इच्छा रखने वाले को उद्देश्य करके विधान होने के कारण अधिकारी सुलभ रहेंगे, ऐसी शंका करके कहते हैं कि अक्षर प्राप्ति पक्ष में भी प्राप्ति की कामनावाला, उपनीत (जिसका उपनयन संस्कार हो चुका हो) आठ वर्ष का ब्राह्मण अधिकारी सुलभ ही है; इस परिहार की, स्पष्ट होने के कारण, उपेक्षा करके बोध के काम्यत्व का दोष बतला रहे हैं—

पहले से बोध्य (बोध का विषय) ज्ञात हो या अज्ञात हो वह कामना का विषय नहीं हो सकता।

अग्निहोत्रादिरूप वेदार्थस्वरूप बोध के; अध्ययन से पहले सन्ध्योपासनादि की तरह, पिता आदि के उपदेश से ही ज्ञात होने पर; सिद्ध होने पर ही वह अर्थबोध कामना का विषय नहीं हो सकता और यदि अज्ञात है तब तो उसकी कामना ही असम्भव है क्योंकि ज्ञात विषय में ही कामना होती है, ऐसा नियम है।

ननु सामान्यतो ज्ञाते विशेषतो बुभुत्सा संभवति। यद्वा विशेषतोऽपि पित्राद्युपदेशात् अवगते सति औपदेशिकज्ञानस्य प्रामाण्यनिर्णयाय पुनर्बोधकामना युक्तैव इत्याशङ्क्य, एवमपि अर्थावबोधमुद्दिश्य अध्ययनविधानं न संभवति इत्याह—

'उद्देशायोगात्' इति।

अग्निहोत्रादिविशेषज्ञानानां न तावदेकबुद्ध्या विशेषाकारेण उद्देशः संभवति, अनन्तत्वात्। सामान्याकारेण उद्देशे सामान्यमेव विधिफलं स्यात्, न तु ज्ञानविशेषः। ततो नोद्देशो युक्तः।

अ०—सामान्यरूप से ज्ञात विषय में भी विशेष रूप से बोध की इच्छा सम्भव है। अथवा विशेष रूप से भी पिता आदि के उपदेश से ज्ञात होने पर उपदेश द्वारा प्राप्त ज्ञान के प्रामाण्य के निर्णय के लिए पुनः बोध की कामना उचित ही हैं, ऐसी शंका पर कहते हैं कि इस प्रकार भी अर्थबोध को उद्देश्य करके अध्ययन का विधान सम्भव नहीं है, इसे ही कहते हैं—उद्देश युक्त नहीं है।

अग्निहोत्र आदि विशेष ज्ञानों का तो एक बुद्धि के द्वारा विशेष रूप से उद्देश सम्भव नहीं है क्योंकि विशेषज्ञान अनन्त हैं। सामान्यरूप से उद्देश करने पर तो सामान्य ही विधिफल होगा न कि ज्ञान विशेष। अतः उद्देश युक्त नहीं है।

ननु अर्थावबोधमुद्दिश्य उच्चारणाभावे वेदस्य स्वार्थे तात्पर्यं न

स्यादित्याशङ्क्य उपक्रमादिलिङ्गगम्यं तात्पर्यं शब्दबलादेव सिध्यति इत्याह—

'तात्पर्यं शब्दात्' इति।

तर्हि अर्थज्ञानमुद्दिश्य शब्दोच्चारणं लौके व्यर्थं स्याद् इति चेद्, न, पुरुषसम्बन्धकृतदोषाख्यप्रतिबन्धपरिहारार्थत्वाद् इत्याह—

'उद्दिश्य उच्चारणं दोषघ्नं लोके' इति।

अ०—अर्थबोध को उद्देश्य करके 'उच्चारण होता है,' ऐसा न मानने पर तो वेद का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं हो सकता है, ऐसी शंका करके कहते हैं कि उपक्रम आदि लिंगों से बोध्य तात्पर्य शब्द के आधार पर ही सिद्ध होता है (तात्पर्य के निर्णय के लिए अर्थज्ञान अनिवार्य नहीं है क्योंकि उसका निर्णय तो उपक्रम आदि छहों लिंगों से होता है उन्हें सर्वदर्शन संग्रहकार ने गिनाया है—उपक्रमोपसंहाराव-भ्यासो पूर्वताफलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥) इसे ही कहते हैं—

शब्द से तात्पर्य सिद्ध होता है।

ऐसी स्थिति में तो अर्थज्ञान को उद्देश्य करके शब्द का उच्चारण लोक में व्यर्थ हो जायेगा। ऐसी शङ्का नहीं कर सकते क्योंकि लोक में शब्दोच्चारण तो पुरुष सम्बन्ध से किये गये दोषरूप प्रतिबन्ध के परिहार के लिए है। इसी बात को सूत्र में कहते हैं—

लोक में उद्देश्य करके उच्चारण दोष का नाश करने के लिए है (तात्पर्य यह है कि वेद अपौरुषेय हैं और इसीलिए उनके वाक्य निर्दुष्ट हैं किन्तु लौकिक वाक्यों में स्थिति दूसरी है। वह यह कि लोक में वक्ता से सम्बद्ध और दूसरी तरफ श्रोता से सम्बद्ध अनेक दोष वाक्य से जुट सकते हैं। यदि वक्ता इसकी अपेक्षा न रखे कि मेरे कहे हुए वाक्य का अर्थ विशेष क्या है तो श्रोता अन्यथा भी समझ सकता है और वक्ता चाहे जिस उद्देश्य से कहे श्रोता भी अपने अनुसार चाहे अनर्थ ही हो समझ लेने को स्वतन्त्र है। इन्हीं दोषों के परिमार्जन के लिये लोक में तो अर्थज्ञान को उद्देश्य करके ही शब्दोच्चारण आवश्यक है।)

ननु अध्ययनविधेर्बोधान्तत्वाभावे विचारशास्त्रं न प्रवर्तेत, प्रयोजका-भावादित्याशङ्क्याह—

'विचार उत्तरविधिप्रयुक्त उपपद्यते' इति।

क्रतुबोधविधयः साङ्गवेदाध्ययनाद् आपातप्रतिपन्ना विरोधपरिहारेण प्रतिष्ठितं निर्णयज्ञानमन्तरेण अनुष्ठापयितुमशक्नुवन्तस्तन्निर्णयाय क्रतु-विचारं प्रयोजयन्ति। श्रवणविधिस्तु साक्षादेव ब्रह्मविचारं विधत्ते। एवं च सति, श्रवणविधेः स्वविधेयप्रयोजकत्वं क्रतुविधीनां च विधेयोपकारि-

प्रयोजकत्वम् इत्युपपद्यतेतराम्। अध्ययनविधिप्रयुक्तिपक्षे तु तद्विधेः क्रतुद्वारा स्वर्गसिद्धिपर्यन्तत्वात् क्रत्वनुष्ठानस्यापि तत्प्रयुक्तौ क्रतुविधिवैयर्थ्यमापद्येत।

अ०—यदि अध्ययनविधि अर्थबोध पर्यन्त पर्यवसायी नहीं है तब तो मीमांसाशास्त्र प्रवृत्त ही होगा क्योंकि प्रयोजक का अभाव रहेगा, ऐसी शङ्का करके कहते हैं—

मीमांसाशास्त्र आगे आने वाली विधियों के कारण उपपन्न होता है। अङ्गों सहित वेदों के अध्ययन से आपाततःज्ञात यज्ञज्ञान विधियाँ विरोध परिहार के द्वारा प्रतिष्ठित निर्णय ज्ञान के विना अनुष्ठान कराने में असमर्थ होती हुयी उनके (विरोधों के) निर्णय के लिए क्रतुविचार का प्रयोजक होती हैं (बात यह है कि व्याकरण आदि अंगों के साथ वेदाध्ययन करने से वेदों का ज्ञान तो हो जाता है किन्तु उसके आधार पर यागीय विधियों के अनुष्ठान करते समय अनेक विरोध भी मिलते हैं। अब उन विरोधों के परिहार के लिए मीमांसाशास्त्र परम आवश्यक है।) श्रवण विधि हो (यथा आत्मा व अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' बृह० अ० २।४।५) साक्षात् ब्रह्म विचार का ही विधान करती है। और ऐसी स्थिति में श्रवण विधि की स्वभिधेय प्रयोजकता और क्रतुविधियों की विधेयोपकारिप्रयोजकता सुतरां उपपन्न हो जाती है। अध्ययन विधि को मीमांसाशास्त्र का प्रयोजक माननेवाले पक्ष में तो अध्ययन विधि का क्रतु के द्वारा स्वर्ग सिद्धिपर्यन्तपर्यवसायी होने के कारण क्रत्वनुष्ठान का भी उसे (अध्ययनविधि को) प्रयोजक मानने पर क्रतुविधिकी व्यर्थता सिद्ध होने लगेगी। (जो सर्वथा अनुचित है। अतएव अध्ययनविधि को मीमांसाशास्त्र का प्रयोजक मानना उचित नहीं है।)

ननु अध्ययनविधेस्त्रैवर्णिकमात्रं प्रति नित्यत्वात् तत् प्रयुक्तौ विचारस्यापि तल्लभ्येत, नान्यथेति चेत्? क्रतुविचारस्य त्रैवर्णिकमात्रेऽपि नित्यत्वसिद्धिः किं वा ब्रह्मविचारस्य? तत्राद्योऽस्मत्पक्षेऽपि सम इत्याह—

'अतो नित्यः क्रतुविचारस्त्रैवर्णिकमात्रस्य' इति।

यतोऽकरणे प्रत्यवायश्रवणात् क्रतवस्त्रैवर्णिकानां नित्या अत इत्यर्थः। द्वितीयोऽनिष्ट इत्याह—

'ब्रह्मविचारः पुनः परमहंसस्यैव' इति।

नित्य इत्यनुषङ्गः।

अ०—शङ्का करते हैं कि तीनों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के प्रति अध्ययन विधि की नित्यता है, अतः अध्ययनविधि से प्रयुक्त मीमांसाशास्त्र को भी तीनों के प्रति नित्यता होने लगेगी अन्यथा नहीं। इसपर समाधान देने के लिए

प्रश्न करते हैं कि क्या आप तीनों वर्णों के प्रति क्रतु विचार की नित्यता सिद्ध करते हैं अथवा ब्रह्म विचार की ? सो पहला (क्रतुविचार) तो हमारे पक्ष में भी समान ही है जैसा कि सूत्र के द्वारा कहते हैं ।

'इसलिए तीनों वर्णों के प्रति क्रतुविचार नित्य है ।' यतः क्रतुविचार न करने पर प्रत्यवाय का श्रवण होता है अतः तीनों वर्णों के प्रति क्रतुविचार नित्य है । किन्तु द्वितीय पक्ष (ब्रह्मविचार की नित्यता) तो हमें अभीष्ट नहीं है, इसे सूत्र में कहा भी गया है—

'ब्रह्मविचार तो संन्यासियों के लिए ही (नित्य) है ।' सूत्र में 'नित्यः' पद जोड़ लेना चाहिये ।

वेदार्थज्ञ की प्रशंसा और ज्ञानफलातिशय का विचार

ननु उक्तरीत्या अध्ययनस्य अक्षरग्रहणान्तत्वेऽर्थज्ञानमविहितं स्यात् । मैवम्, वाक्यान्तरेण तद्विधानात्—'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति तद्विधिः । तत्र निष्कारणशब्देन अध्ययनज्ञानयोः काम्यत्वं निवार्यते ।

अ०—शङ्का करते हैं कि यदि उपर्युक्त रीति से अध्ययन अक्षरग्रहणपर्यन्त-पर्यवसायी माना जाय तब तो यह मानना पड़ेगा कि अर्थज्ञान अविहित ही रह गया । इसका समाधान करते हैं कि ऐसी बात नहीं है क्योंकि वाक्यान्तर से उसका विधान किया जाता है, यथा—'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदो अध्येयो ज्ञेयश्च', अर्थात् ब्राह्मण के द्वारा बिना कारण के धर्म (वेदार्थ) तथा षडङ्ग वेद का अध्ययन करना चाहिये और उसका ज्ञान करना चाहिये, यह उसकी विधि है । उसमें 'निष्कारण' शब्द के द्वारा अध्ययन और ज्ञान के काम्यत्व का निवारण किया जाता है (इस प्रकार वेदाध्ययन और अर्थज्ञान नित्य हैं काम्य नहीं) ।

ऊपर किये गये विचारों से यह निश्चित हो गया कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि वाक्य से विहित अध्ययन विधि दृष्टफल है तथा वह अध्ययन विधि अक्षरग्रहणपर्यन्तपर्यवसायी है ।

अर्थज्ञाने पुरुषप्रवृत्तिकरं वचनद्वयं शाखान्तरगतं निरुक्तकारो यास्क एवमुदाजहार—'अथापि ज्ञानप्रशंसा भवत्यज्ञाननिन्दा च—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥

यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥
(निरुक्त १।१८) इति।

अ०—अर्थ-ज्ञान में पुरुष को प्रवृत्त कराने वाले दूसरी शाखा के दो वचन निरुक्तकार यास्कने उदाहृत किये हैं। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि ज्ञान की प्रशंसा होती है और अज्ञान की निन्दा—

जो वेद को पढ़कर भी अर्थ को सम्यक् नहीं जानता वह भार ढोने वाला स्थाणु (ठूँठ) ही हुआ। जो अर्थ को जानने वाला है वह सभी कल्याण को प्राप्त करता है (और) ज्ञान से निष्पाप आत्मा वाला होकर स्वर्ग को जाता है। जो वेद वाक्य विना समझे बूझे गृहीत हुआ है और केवल पाठमात्र से उच्चारण किया गया है वह उसी प्रकार कभी प्रकाशित नहीं होता, जिस प्रकार सूखी भी लकड़ी विना आग वाली राख में नहीं जलती (प्रकाश करती)'।

अस्मिन् मन्त्रद्वये 'योऽर्थज्ञः' इत्यनेनार्धेन वेदार्थज्ञानं प्रशस्यते। इतरेणार्धत्रयेण ज्ञानराहित्यं निन्द्यते। यो वेदार्थं जानाति सोऽयमिह लोके सकलं श्रेयः प्राप्नोति। तथा तेन ज्ञानेन पापक्षये सति मृतः स्वर्गं प्राप्नोति। तदेतत् ऐहिकामुष्मिकं ज्ञानफलं तैत्तिरीया मन्त्रोदाहरणेन तदीयतात्पर्याभिधायिब्राह्मणेन च स्पष्टीचक्रुः—'तदेषाभ्युक्ता—ये अर्वाङ्उत वा पुराणे वेदं विद्वांसमभितो वदन्त्यादित्यमेव ते परिवदन्ति, सर्वेऽग्निं द्वितीयं तृतीयं च हंसमिति'। 'यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति। तस्माद् ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्भ्यो दिवे दिवे नमस्कुर्यान्नाश्लीलं कीर्तयेदेता एव देवताः प्रीणाति' (तै० आ० २।१५) इति।

अ०—इन दोनों मन्त्रों में 'योऽर्थज्ञः' इस श्लोकार्ध से वेद के अर्थज्ञान की प्रशंसा की जाती है (और) अन्य तीनों श्लोकार्धों से ज्ञान शून्यता की निन्दा की जाती है। जो वेदों के अर्थ को जानता है वही इस लोक में सम्पूर्ण श्रेय प्राप्त करता है, तथा उसी ज्ञान से पाप के क्षय हो जाने पर वह अर्थज्ञानी मरने पर स्वर्ग प्राप्त करता है। सो इसी ऐहिक और आमुष्मिक ज्ञान फल को, तैत्तिरीय शाखाध्यायियों ने मन्त्र के उदाहरण के द्वारा और उसी तात्पर्य को कहने वाले ब्राह्मण के द्वारा, स्पष्ट किया था। अतः यह ऋचा कही गयी है। 'जो लोग अर्वाचीन अथवा प्राचीनकाल में वेद को जाननेवाले के (जो वेद का ज्ञान रख रहा है उसके) सम्बन्ध में उभयथा बोलते हैं (निन्दा करते हैं) वे लोग आदित्य की ही निन्दा करते हैं, सभी द्वितीय अग्नि, की (निन्दा करते हैं) तथा तृतीय वायु की (निन्दा करते हैं)।' 'जितने भी देवता हैं सभी वेदज्ञ ब्राह्मण में

निवास करते हैं । अतः वेदज्ञ ब्राह्मण को प्रतिदिन नमस्कार करे, अश्लील न कहे । इन देवताओं को वह (वेदज्ञ ब्राह्मण को नमस्कार करने वाला) प्रसन्न करता है ।'

वेदं विद्वान् अर्थाभिज्ञः पुरुषः स च द्विविधः । अर्वाचीनकाले समुत्पन्नः चतुर्दशविद्यास्थानकुशलः कश्चिदुपाध्यायः, पुरातनकाले समुत्पन्नो व्यासादिश्च । तमेतमुभयविधं विद्वांसं विद्यामदधनमदकुलमदोपेताः पण्डितंमन्या ये पुरुषा अभितो विद्यादिषु दूषयन्ति ते सर्वेऽपि आदित्यमेव प्रथमं दूषयन्ति, आदित्यापेक्षया द्वितीयमग्निं दूषयन्ति, तदुभयापेक्षया तृतीयं हंसं दूषयन्ति । हन्ति सदाती गच्छतीति हंसो वायुः ।

अ०—वेद का ज्ञान रखने वाला और अर्थज्ञ पुरुष दो प्रकार का होता है—आधुनिक काल में उत्पन्न चतुर्दशविद्यास्थान (पुराणन्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्रांग-मिश्रिताः । वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥) में कुशल कोई उपाध्याय और प्राचीन काल में उत्पन्न व्यास आदि । उस उभयविध को जानने वाले को; विद्यामद, धनमद एवं कुलमद से युक्त अपने आप को पण्डित मानने वाले जो लोग विद्या आदि के सम्बन्ध में उभयथा दोषी बताते हैं (निन्दा करते हैं) वे सभी पहले आदित्य को ही दूषित बताते हैं, आदित्य की अपेक्षा द्वितीय अग्नि को दोषी बताते हैं एवं इन दोनों की अपेक्षा तृतीय वायु को ही दोषी बताते हैं । (हंस का अर्थ बताते हुए कहते हैं) हन्ति (हन् हिंसागत्योः) का अर्थ सदा जाना है । जो सदा जाता है वह हंस अर्थात् वायु है ।

अग्न्यादिरूपत्वं च वेदविद आम्नातम्—'अग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छति' (तै० आ० २।१५) इति । न केवलमेतद्देवतात्रयं किंतु सर्वा अपि देवता वेदविदि वसन्ति । तस्मात् ब्राह्मणान् वेदविदो दृष्ट्वा स्मृत्वा वा प्रतिदिनं नमस्कुर्यात्, न तु तस्मिन् विद्यमानमपि दोषं कीर्तयेत् । एवं सति तत्तन्मन्त्रार्थभूताः सर्वा अपि देवता वेदार्थविदा स्मर्यमाणतया तदीयहृदयेऽवस्थिता अयं नमस्कर्ता दोषयति । न चैतदध्ययनस्यैव फलमिति शङ्कनीयं 'विद्वांसम्' (तै० आ० २।१५) इत्याम्नातत्वात् । अन्यथा वेदमधीयानमित्याम्नायेत । तस्मात् सर्वदेवताबुद्धया प्राणिभिः पूज्यस्य वेदार्थविदो लोकद्वयेऽपि श्रेयःप्राप्तिरुपपद्यते ।

अ०—वेदविद् ब्राह्मण का अग्नि आदि का स्वरूप होना इस प्रकार कहा गया है—'अग्नि, वायु, आदित्य का सायुज्य प्राप्त कर लेता है ।' न केवल ये ही तीन देवता अपितु सभी देवता वेदज्ञ में निवास करते हैं । अतः वेदज्ञ ब्राह्मणों को देखकर अथवा स्मरण कर प्रतिदिन नमस्कार करे । उसमें विद्यमान दोष को भी कभी न कहे । इस प्रकार उन-उन मन्त्रों के अर्थभूत सभी देवता वेदार्थ के जानने

वाले के द्वारा स्मर्यमाण होने के कारण उसके (वेदार्थज्ञ के) हृदय में अवस्थित रहते हैं तथा नमस्कार करने वाले को सन्तुष्ट कर देते हैं। यहाँ, अध्ययन का ही यह फल है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि 'विद्वांसम्' (विद्ज्ञाने + शतृ→वसु) ऐसा कहा गया है। अन्यथा वेद का अधीयान् (पढ़ता हुआ) ऐसा कहा गया होता। इसलिए सभी देवता की वुद्धि से (भावना से) प्राणियों के द्वारा पूज्य वेदार्थज्ञ की दोनों लोकों में श्रेयःप्राप्ति उपपन्न होती है।

यस्तु वेदमधीत्यापि अर्थं न विजानाति सोऽयं पुमान् भारमेव हरति धारयति। स्थाणुरिति दृष्टान्तः। छिन्नशाखं शुष्कं वृक्षमूलं स्थाणुशब्देनोच्यते। स च यथेन्धनार्थमेवोपयुज्यते न तु पुष्पफलार्थं, तथा केवलपाठकस्य व्रात्यत्वं न भवतीत्येतावदेव न ह्यनुष्ठानं स्वर्गादिफलसिद्धिर्वास्ति। किल इत्यनेन लोकप्रसिद्धिर्द्योत्यते। लोकेऽपि पाठकस्य यावती धनादिपूजा ततोऽप्यधिका विदुषि दृश्यते।

अ०—जो वेद को पढ़कर भी अर्थ को नहीं जानता है वह यह पुरुष भार को ही धारण करता है। स्थाणु यह दृष्टान्त है। कटी हुयी शाखावाले सूखे वृक्षमूल का स्थाणु शब्द से व्यवहार किया जाता है। और वह स्थाणु जैसे इन्धन-के लिए ही उपयुक्त होता है न कि पुष्प फल के लिए, उसी प्रकार केवल वेद का पाठ करनेवाले का व्रात्यत्व (पातित्य) नहीं होता है, वस इतना ही न कि अनुष्ठान और स्वर्गादि फल की सिद्धि होती है। 'किल' इससे लोकप्रसिद्धि द्योतित होती है। लोक में भी केवल पाठक की जितनी धन आदि से पूजा होती है उससे कहीं अधिक विद्वान् की पूजा देखी जाती है।

किंच यद्वेदवाक्यमाचार्यात् गृहीतमर्थज्ञानरहितं पाठरूपेणैव पुनः पुनरुच्चार्यते, तत् कदाचिदपि न ज्वलति स्वार्थं न प्रकाशयति। यथाग्निरहितप्रदेशे प्रक्षिप्तं शुष्ककाष्ठं न ज्वलति तद्वत्। तथा सति तस्य वाक्यस्य वेदत्वमेव मुख्यं न स्यात्। अलौकिकं पुरुषार्थोपायं वेत्त्यनेनेति वेदशब्दनिर्वचनम्! तथा चोक्तम्—

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता' ॥ इति।

अ०—और क्या, जो वेदवाक्य आचार्य से गृहीत भी अर्थज्ञानरहित पाठरूप से ही वार-वार उच्चरित होता है वह कभी अपने अर्थ को प्रकाशित नहीं करता, जैसे अग्निरहित प्रदेश में (राख आदि में) रखा हुआ भी सूखा काठ नहीं जलता है उसी प्रकार। और इस प्रकार उस वाक्य का वेदत्व ही मुख्य नहीं होगा (वह मुख्य रूप से वेद नहीं सिद्ध होगा।) क्योंकि वेद शब्द का निर्वचन यह है कि

जिसके द्वारा अलौकिक पुरुषार्थोपाय जाना जाता है वह वेद है। और कहा भी गया है—

प्रत्यक्ष और अनुमान से जो उपाय नहीं जाना जाता है उसी उपाय को वेद से जानते हैं (जाना जाता है) इसलिए वेद की वेदता है।

अतो मुख्यवेदत्वसिद्धये ज्ञातव्य एव तदर्थः। किंचात्र यास्केन (निरुक्त १।१९) काचिदन्याप्यृगुदाहृता—

'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥
(ऋ० सं० १०।७१।४) इति।

तत्र पूर्वार्धस्य तात्पर्यं स एव दर्शयति-'अप्येकः पश्यन्नपि न पश्यति वाचम्। अपि च शृण्वन्न शृणोत्येनाम् इति अविद्वांसमाहार्धम्' इति। अस्यायमर्थः—यः पुमानर्थं न वेत्ति तं प्रति पूर्वार्धेन मन्त्रो ब्रूते। एकः पाठमात्रपर्यवसितो वेदरूपां वाचं पश्यन्नपि न सम्यक् पश्यति। एकवचनबहुवचनादिविवेकाभावे पाठशुद्धेरपि कर्तुमशक्यत्वात्। 'वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति' 'आदित्यानेव स्वेन भागधेयेनोपधावति त एवैनं भूतिं गमयन्ति' (तै० सं० २।१।१।१) इत्यादौ अव्युत्पन्नः कथं पाठं निश्चिनुयात्? अन्यः कश्चिदर्थज्ञानाय व्याकरणाद्यङ्गानि शृण्वन्नपि मीमांसाराहित्यादेनां वेदरूपां वाचं न सम्यक् शृणोति। 'यावतोऽश्वान्प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेत्' (तै० सं० १।३।१२।१) इत्यत्र व्याकरणमात्रेण प्रतिग्रहीतुरिष्टिः प्रतीयते। मीमांसायां तु न्यायेन दातुरिति निर्णीतम् (जै० सू० ३।४।३०)। तस्मादुभयविधमप्यविद्वांसं प्रति एवमाहेति।

अ०—इसलिए मुख्यतः वेदत्व की सिद्धि के लिए वेद का अर्थ जानना ही चाहिये। और क्या, इस प्रसंग में यास्क ने कोई एक दूसरी ऋचा भी उदाहृत की है—

'कोई-कोई वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता है। कोई-कोई इसे सुनता हुआ भी नहीं सुनता है। (वही वाणी स्वयं) किसी एक के प्रति अपने शरीर को खोल (प्रकट कर) देती है, जैसे सुन्दर वस्त्र वाली एवं कामना वाली जाया अपने पति के लिए (अपने शरीर को प्रकट कर देती है)।

इस मन्त्र में पूर्वार्ध का तात्पर्य स्वयं यास्क ने लिखा है—'एक व्यक्ति (जो अर्थ का ज्ञान नहीं रखता) वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता और सुनता हुआ भी इसे नहीं सुनता है, यह श्लोकार्ध अर्थज्ञान शून्य व्यक्ति के सम्बन्ध में कहा गया है। इसका अर्थ यह है—जो पुरुष अर्थ को नहीं जानता उसके प्रति मन्त्र अपने

पूर्वार्ध से कहता है। कोई पुरुष जिसके अध्ययन का पर्यवसान पाठमात्र में है वह वेदरूप वाणी को देखता हुआ भी सम्यक् नहीं देखता है क्योंकि उसे एकवचन, बहुवचन आदि के विवेक के अभाव में पाठशुद्धि करने में भी वह असमर्थ होता है। "वायुमेव स्वेन....भूतिं गमयति" तथा "आदित्यानेव स्वेन....भूतिं गमयति" इत्यादि वाक्यों में भला अव्युत्पन्न व्यक्ति कैसे पाठ का निश्चय करेगा ? और कोई दूसरा अर्थज्ञान के लिए व्याकरण आदि अंगों को सुनता हुआ भी मीमांसाशास्त्र के ज्ञान के अभाव के कारण इस वेदरूप वाणी को सम्यक् नहीं सुनता है। "यावतोऽश्वान्....निर्वपेद्" यहाँ व्याकरणमात्र से यह प्रतीत होता है कि यह इष्टि प्रतिग्रहीता (ग्रहण करने वाला) को करनी है किन्तु मीमांसा में न्याय से यह सिद्ध किया गया है कि ग्रहण करने वाले को नहीं अपितु दाता को (यह इष्टि) करनी है। इसलिए दोनों प्रकार के अविद्वानों के प्रति इस प्रकार कहा गया है।

तृतीयपादतात्पर्यं दर्शयति—'अप्यैकस्मै तन्वं विसस्रे इति स्वमात्मानं विवृणुते ज्ञानं प्रकाशनमर्थस्याहानया वाचा' इति। अपिशब्दपर्याय उतोऽब्दः। स च पूर्वोक्तानभिज्ञवैलक्षण्यायात्र प्रयुक्तो निपातानामनेकार्थत्वात्। यः पुमान् व्याकरणाद्यङ्गैः स्वशब्दार्थं मीमांसया तात्पर्यं च शोधयितुं प्रवृत्तस्तस्मै एकस्मै वेदः स्वकीयां तनुं विसस्रे। स्वमित्यादिकं पदव्याख्यानम् ज्ञानमित्यादिकं तात्पर्यव्याख्यानम्। वेदार्थप्रकाशनक्षमं सम्यग्ज्ञानमनया तृतीयपादरूपया वाचा मन्त्र आहेति।

अ०— तृतीयपादका तात्पर्य दिखलाते हैं,—'किसी एक के लिए अपने शरीर को उद्घाटित कर देती है' अर्थात् अपने आपको विवृत कर देती है, इस वाणी के द्वारा अर्थ के ज्ञान का प्रकाशन कहा जाता है।' 'उतो' शब्द 'अपि' शब्द का पर्याय है। और वह पहले कहे गये अनभिज्ञ से विलक्षणता के लिए यहाँ प्रयुक्त हुआ है क्योंकि निपातों के अनेक अर्थ होते हैं। जो पुरुष व्याकरण आदि अंगों से वेद के अर्थ का और मीमांसा से तात्पर्य का शोधन करने के लिए प्रवृत्त होता है उसी एक के लिए वेद अपने शरीर को उद्घाटित कर देता है। 'स्वं' इत्यादि पद व्याख्यान है और 'ज्ञानम्' इत्यादि तात्पर्य व्याख्यान। इस तृतीय पादरूप वाणी से मन्त्र वेद के अर्थ के प्रकाशन में समर्थ सम्यग् ज्ञान को कहता है।

चतुर्थपादतात्पर्यं दर्शयति 'उपमोत्तमया वाचा। जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषु। सुवासाः कल्याणवासाः। कामयमाना ऋतुकालेषु। यथा स एनां पश्यति स शृणोतीत्यर्थज्ञप्रशंसा' इति। अस्यायमर्थः—उत्तमया चतुर्थपादरूपया वाचा तृतीयपादार्थस्योपमा उच्यते। उशतीत्येतस्य व्याख्यानं कामयमानेति। यद्यपि अह्नि गृहकृत्यवेलायां

मलिनवासास्तथापि संभोगकालेषु कल्याणवासा भवति। तत्र हेतुः। कामयमाना ऋतुकालेष्विति। यथा स पतिरेनां जायां साकल्येनादरयुक्तः पश्यति, किंच तयोक्तमर्थं हितवुद्धया शृणोति, तथायं चतुर्दशविद्यास्थानपरिशीलनोपेतः पुरुषो वेदार्थरहस्यं सम्यक् पश्यति, वेदोक्तं च धर्मब्रह्मरूपमर्थं हितवुद्धया स्वीकरोति। सेयमुक्ता वेदार्थाभिज्ञस्य प्रशंसेति।

अ०—चतुर्थपाद का तात्पर्य उपमायुक्त उत्तम वाणी से दिखलाते हैं—'ऋतुकाल में सुन्दर वस्त्र वाली, कामना वाली पति के लिए जाया की तरह। 'सुवासाः' का अर्थ सुन्दर वस्त्र वाली है। 'कामयमाना' का अर्थ ऋतुकाल में पति की कामना वाली है। जिस प्रकार वह पति इसको देखता है, सुनता है (उसी प्रकार अर्थज्ञ वेद को देखता है, सुनता है), यह अर्थज्ञ की प्रशंसा है। इसका यह अर्थ है,—चतुर्थपादरूप उत्तम वाणी के द्वारा तृतीयपाद के अर्थ की उपमा कही जाती है। 'उशती' इसका व्याख्यान 'कामयमाना' है। यद्यपि दिन में गृहकार्य के समय मलिन वस्त्र पहने रहती है तथापि सम्भोगकाल में सुन्दर वस्त्र वाली होती है। उसमें हेतु है ऋतुकाल में कामना वाली होना। जिस प्रकार वह पति इस जाया को सकल आदर युक्त होकर देखता है और उसके कहे हुए अर्थ को हितबुद्धि से सुनता है उसी प्रकार यह चतुर्दश विद्यास्थान का परिशीलन करने वाला पुरुष वेदार्थ के रहस्य को सम्यग् देखता है और वेद में कहे गये धर्म-रूप और ब्रह्मरूप अर्थ को हितबुद्धि से स्वीकार करता है। वह यह वेदार्थज्ञ की प्रशंसा है।

पुनरप्यृगन्तरं यास्कः (निरुक्त १।२०) उदाजहार—'तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—

'उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥

(ऋ० सं० १०।७१।५) इति।

अयमर्थः। पूर्वोदाहृतायाः 'उत त्वः पश्यन्' इत्यादिकाया ऋचोऽनन्तरमेवाम्नाता काचित् ऋक् अस्य पूर्वोक्तमन्त्रार्थस्य भूयसे निर्वचनाय संपद्यते। तमर्थमतिशयेन प्रतिपादयितुं प्रभवति। कथमिति चेत्? तदुच्यते। अपि चैकं चतुर्दशविद्यास्थानकुशलं पुरुषं वेदरूपाया वाचः सख्ये स्थित्वा स्थैर्येण वेदोक्तार्थामृतपानयुक्तमाहुः, अभिज्ञाः कथयन्ति। 'सखिविदं सखायम्' (तै० आ० २१५) इति मन्त्रे वेदस्य सखित्वमुदाहृतम्। यद्वा स्वर्गलोके देवानां सख्ये स्थित्वातिशयेन पीतामृतमाहुः। वाचाम् इना ईश्वराः सभासु प्रगल्भा वा वाजिनाः। तेषु मध्येऽप्येनं वेदार्थकुशलं चोदयितुं न हिन्वन्ति, न केऽपि प्राप्नुवन्ति। तेन सह विवदितुमसमर्थत्वात्। यस्तु अन्यः पाठमात्र-

परः पुष्पफलरहित्तां वाचं शुश्रुवान् भवति । पूर्वकाण्डोक्तस्य धर्मस्य ज्ञानं पुष्पम् । उत्तरकाण्डोक्तस्य ब्रह्मणो ज्ञानं फलम् । यथा लोके पुष्पं फल-स्योत्पादकं तथा वेदानुवचनादिधर्मज्ञानमनुष्ठानद्वारा फलात्मकब्रह्मज्ञानेच्छां जनयति । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तप-सानाशकेन' (बृ० उ० ४।४।२२) इति श्रुतेः । यथा च फलं तृप्तिहेतुस्तथा ब्रह्मज्ञानं कृतकृत्यत्वहेतुः 'यत्पूर्णानन्दैकबोधस्तद् ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति (परमहंसोपनिषद् ४) इति श्रुतेः । तादृशपुष्पफलरहितवेदपाठकः स एष पुमान् अधेन्वा मायया सह चरति । नवप्रसूतिका क्षीरदोग्ध्री गौः प्रीतिहेतुत्वात् धिनोतीति व्युत्पत्त्या धेनुरित्युच्यते । पाठमात्रपरं प्रति वेदरूपा वाग्धर्मज्ञानरूपं क्षीरं न दोग्धीत्यधेनुः । अत एवासौ माया कपट-रूपा, ऐन्द्रजालिकनिर्मितगोसदृशरूपत्वाद् । तया मायया सह चरन्नयं परमपुरुषार्थं न लभते इत्यर्थः । इत्थं यास्केन ज्ञानस्तुत्यज्ञाननिन्दोदाहरणस्य प्रपञ्चितत्वात् यच्च स्तूयते तद्विधीयते इति न्यायेन अध्ययनवदर्थस्यापि विधिरभ्युपगन्तव्यः ।

अ०—यास्क ने फिर दूसरी ऋचा का उदाहरण दिया है—बाद वाली ऋचा उसी अर्थ के और अधिक निर्वचन के लिए है—'कोई पुरुष वेदरूप वाणी की मित्रता में स्थिरतापूर्वक (वेदार्थरूप अमृत का) पान करने वाला होता है, इसे विद्वान् कहते हैं । उस पुरुष की विद्वानों की सभा में भी कोई समता नहीं कर सकता । जो अर्थज्ञ नहीं है वह माया की धेनु (कल्पित धेनु) के साथ घूमता है और पुष्परहित, फलरहित वाणी को सुनता है ।'

(इसका) यह अर्थ है । 'उत त्वः पश्यन्' इत्यादि पूर्वोदाहृत ऋचा के बाद ही कही गयी एक ऋचा उस पूर्वोक्त मन्त्रार्थ के विस्तृत निर्वचन को सम्पन्न करती है । उस अर्थ को अधिक प्रतिपादन करने में समर्थ होती है । यदि कोई पूछे वह कैसे ? तो कहते हैं—चतुर्दशविद्यास्थान में कुशल किसी पुरुष को, वेदरूप वाणी की मित्रता में रहकर स्थिरता से वेदोक्त अर्थरूप अमृत के पान से युक्त, अभिज्ञ लोग कहते हैं । 'सखिविदं सखायम्' इस मन्त्र में वेद का सखित्व (मित्रता) कहा गया है । अथवा स्वर्गलोक में देवताओं की मित्रता में रहकर पर्याप्तिरूप में अमृतपानयुक्त उसे (पुरुष को) कहते हैं । 'वाचम् इना ईश्वराः अथवा सभासु प्रगल्भाः' यह वाजिन शब्द की व्युत्पत्ति है । उन ईश्वरों अथवा प्रगल्भों के बीच में भी इस वेदार्थ कुशल पुरुष को कोई प्रेरित नहीं कर सकते क्योंकि उसके साथ शास्त्रार्थ में असमर्थ होते हैं । जो तो दूसरा पाठमात्र करने वाला है (वह) पुष्पफलरहित वाणी को सुनने वाला है । पूर्वकाण्ड में कथित धर्म का ज्ञान पुष्प

है। उत्तरकाण्ड में कथित ब्रह्म का ज्ञान फल है। जिस प्रकार लोक में पुष्प फल का उत्पादक है ऐसे ही वेदानुवचनादि धर्म का ज्ञान अनुष्ठान द्वारा फलात्मक ब्रह्मज्ञान की इच्छा को उत्पन्न करता है। 'ब्राह्मण लोग उस ब्रह्म को वेदानुवचन, यज्ञ, दान, तप, उपवास के द्वारा जानना चाहते हैं', यह श्रुति है। जिस प्रकार फल तृप्ति का हेतु है उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान कृतकृत्यत्व का हेतु है जैसा कि परमहंसोपनिषद् में श्रुति कहती है—'जो केवल पूर्णानन्द बोधस्वरूप ब्रह्म है, वही मैं हूँ, ऐसा (सोचकर) कृतकृत्य होता है।' उस प्रकार के पुष्प और फल से रहित वेद का पाठक यह पुरुष माया निर्मित अधेनु के साथ घूमता है। नयी व्यायी हुई दूध देने वाली गाय, प्रीति का हेतु होने के कारण 'धिनोति' इस व्युत्पत्ति से धेनु कही जाती है। केवल पाठमात्र करने वाले पुरुष के लिए वेदरूप वाणी धर्म और ब्रह्म-ज्ञानरूप दूध नहीं देती है अतः वह अधेनु है। इसीलिए ही यह कपटरूपा माया है क्योंकि ऐन्द्रजालिक के द्वारा निर्मित गाय के सदृश रूपवाली है। उस माया के साथ घूमता हुआ यह (पुरुष) परमपुरुषार्थ को नहीं प्राप्त करता है। इस प्रकार यास्कमुनि के द्वारा ज्ञानस्तुति और ज्ञाननिन्दा के उदाहरण का विस्तृत वर्णन करने के कारण जिसकी प्रशंसा की जाती है उसी का विधान किया जाता है, इस न्याय के आधार पर अध्ययन की भाँति ही अर्थज्ञान की विधि भी जाननी चाहिये।

किंच नक्षत्रेष्टिकाण्डे प्रतीष्टिफलवाक्यं यागतद्वेदनयोः समान-मेवाम्नायते—'यथा ह वा अग्निर्देवानामन्नद एवं ह वा एष मनुष्याणां भवति य एतेन हविषा यजते य उ चैनदेवं वेद' (तै० ब्रा० ३।१।४।१) इति। अतो यागवत् फलाय स्ववेदनमपि विधीयते। अनेन न्यायेन सर्वे-ष्वपि ब्राह्मणेषु वेदनविधयो द्रष्टव्याः।

अ०—और भी, नक्षत्रेष्टिकाण्डमें याग और उसके ज्ञानके विषय में प्रत्येक इष्टि का फलवाक्य समान रूपसे कहा जाता है—'जिस प्रकार देवताओंमें अग्नि अन्न भक्षण करने वाला है उसी प्रकार यह मनुष्यों में (अन्नभक्षण करने वाला) होता है जो इस हवि के द्वारा यजन करता है और जो इसे जानता है।' इसीलिए याग की भाँति ही फल के लिए अर्थज्ञान का भी विधान करते हैं। इसी न्याय से सभी ब्राह्मणों में ज्ञानविधियों को समझना चाहिये।

ननु 'विद्याप्रशंसा' (जै० सू० १।२।१५) इति सूत्रे वेदनफलानां प्रशंसा-रूपत्वं जैमिनिना सूत्रितमिति चेत्, अस्तु नाम। विद्यमानेनापि फलेन प्रशंसितुं शक्यत्वात्। दर्शयागस्य पूर्णमासयागस्य च अतिपाते सति प्राय-श्चित्तरूपां वैश्वानरेष्टिं विधातुं विद्यमानेनैव स्वर्गफलेन स्तुतिः क्रियते

'सुवर्गाय हि लोकाय दर्शपूर्णमासाविज्येते' (तै० सं० २।२।५।४) इति। एतच्चाचार्यैर्ब्रह्मज्ञानफलवाक्यस्य स्वार्थेऽपि तात्पर्यं दर्शयितुमुदाहृतम्—

इच्छाम्येवार्थवादत्वं वचसोऽन्यपरत्वतः।
यथावस्त्वभिधायित्वान्न त्वभूतार्थवादता॥
इज्येते स्वर्गलोकाय दर्शादर्शौ यथा तथा।
न त्वभूतार्थवादत्वं पापश्लोका श्रुतिर्यथा॥
(बृ० उ० वा० १२७-१२८) इति।

अनु०—यहाँ शङ्का करते हैं कि 'विद्याप्रशंसा' इस सूत्र में जैमिनि मुनि ने ज्ञान के फलों को प्रशंसा के रूप में सूचित किया है। इसका समाधान करते हैं कि वैसा हो, उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है क्योंकि विद्यमान फल से भी प्रशंसा की जा सकती है। दर्शयाग और पूर्णमास याग के समय के अतिक्रमण हो जाने पर प्रायश्चित्त रूप वैश्वानरेष्टि के विधान के लिए विद्यमान स्वर्गफल से ही स्तुति की जाती है। 'स्वर्ग के लिए दर्शयाग और पूर्णमास याग किये जाते हैं' ऐसा श्रुति कहती है। ब्रह्मज्ञान के फलवाक्य का स्वार्थ में भी तात्पर्य होता है, इसे बताने के लिए आचार्यों ने यह उदाहरण दिया है।

ब्रह्मज्ञान का फलवाक्य यतः ब्रह्मज्ञान की प्रशंसा के लिए आया है, अतः इसे अर्थवाद[1] के रूप में स्वीकार करना चाहता हूँ। यथावस्तु का अभिधायी होने के कारण इस फल वाक्य की अभूत अर्थवादता नहीं मानी जा सकती। जिस प्रकार 'सुवर्गाय हि लोकाय दर्शपूर्णमासाविज्येते' यह वाक्य भूतार्थवाद है इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान का फलवाक्य भी भूतार्थवाद है और जिस प्रकार 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भ-

---

१. अर्थवाद के तीन भेद हैं—

विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः॥

प्रमाणान्तर के विरोध होने पर गुणवाद अर्थवाद कहलाता है, जैसे 'आदित्यो यूपः।' यहाँ यूप में आदित्य का अभेद यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से बाधित है तथापि लक्षणा से उज्ज्वलत्व रूप गुण का प्रतिपादन किया जाता है। दूसरे प्रमाणों से ज्ञात अर्थ का बोधक अर्थवाद अनुवाद है, जैसे 'अग्निः हिमस्य भेषजम्।' यहाँ अग्नि में हिम का विरोध प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात है। प्रमाणान्तर का विरोध अथवा उसकी प्राप्ति दोनों से रहित अर्थ का बोधक अर्थवाद भूतार्थवाद है, जैसे, 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्।' इन्द्र के वज्र का उद्यमन न किसी प्रमाण से विरुद्ध है न किसी प्रमाण से प्राप्त है।

वति न स पापं श्लोकं शृणोति' यह अभूतार्थवाद है उस प्रकार ब्रह्मज्ञानका फल-वाक्य अभूतार्थवाद नहीं है ।

न च वेदनमात्रेण फलसिद्धावनुष्ठानवैयर्थ्यमिति शङ्कनीयम्, फल-भूयस्त्वेन परिहृतत्वात् । उदाहृतं चात्र जैमिनिसूत्रम्—

'फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत्परिमाणतः सारतो वा फलविशेषः स्यात्' (तैं० सू० १।२।१७) इति ।

एतच्चास्माभिः 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' (जै० सं० ५।३।१२।२) इत्युदाहरणेन व्याख्यातम् ।

अ०—ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये कि केवल ज्ञान से ही फलकी सिद्धि हो जाने पर अनुष्ठान की व्यर्थता हो जायेगी क्योंकि फल की अपेक्षा अनुष्ठान का फल अधिक होता है, ऐसा कहकर परिहार कर दिया गया है, और इस प्रसंग में जैमिनि का सूत्र भी उदाहृत किया गया है—'फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः सारतो वा फलविशेषः स्यात्' (जै० १।२।१७) । और इसका हम-लोगों ने 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' इस उदाहरण के द्वारा व्याख्यान किया है ।

छन्दोगाश्च केवलादनुष्ठानात् विद्यासहितेऽनुष्ठाने फलातिशयमाम-नन्ति—'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद । नाना तु विद्या चाविद्या च । यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छां० उ० १।१।१०) इति । यद्यप्यङ्गावबद्धोपास्तिरत्र विद्याशब्देन विव-क्षिता, तथापि न्यायः सर्वास्वपि विद्यासु समानः ।

अ०—छान्दोग्य उपनिषद् के अध्येता केवल अनुष्ठान की अपेक्षा विद्या-सहित अनुष्ठान करने पर फलाधिक्य कहते हैं—'वे दोनों अनुष्ठान करते हैं जो इसे जैसा है वैसा समझता है और जो नहीं समझता है । विद्या अविद्या नाना प्रकार की होती हैं । जो कुछ विद्या, श्रद्धा और रहस्य के साथ करता है वही अधिक वलवान् होता है ।' यद्यपि यहाँ अङ्गावबद्ध उपासना विद्या शब्द से विव-क्षित है तथापि न्याय सभी विद्याओं में समान है ।

कुतस्तवेतावती वेदने भक्तिरिति चेत् । कुतो वा तवैतावान् प्रद्वेषः । प्रशंसा त्वस्माभिर्भूयसी दर्शिता । निन्दा तु न क्वाप्युपलभामहे । किंतु कर्मजन्यमपूर्वं यथा मरणादूर्ध्वं जीवेन सह गच्छति तथा विद्याजन्यम-प्यपूर्वं गच्छति । तथा च वाजसनेयिन आमनन्ति--'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' (बृ० उ० ४।४।२) इति । तस्मात् अध्ययन-वदर्थज्ञानस्यापि विहितत्वादर्थज्ञानाय वेदो व्याख्यातव्यः ।

अ०—भला ज्ञान में तुम्हारी इतनी भक्ति कैसे है ? यदि कोई पूछे तो हम ही उससे पूछते हैं कि तुम्हारा भला इतना द्वेष (ज्ञान के प्रति) कैसे ? हमने प्रशंसा तो बहुत दिखलायी किन्तु हमें निन्दा तो कहीं नहीं मिलती, प्रत्युत कर्म-जन्य अपूर्व जिस प्रकार मरणोपरान्त जीव के साथ जाता है उसी प्रकार विद्या-जन्य अपूर्व भी जाता है । इस प्रकार का वाजसनेयी संहिता के अध्येता कहते हैं—'उस मृतात्मा का विद्या कर्म और पूर्व प्रज्ञा अनुगमन करते हैं ।' इसलिए अध्ययन की भाँति ही अर्थज्ञान भी विहित होने के कारण अर्थज्ञान के लिए वेद का व्याख्यान होना चाहिये ।

वेद के विषय आदि अनुबन्ध-चतुष्टय का निरूपण

विषयप्रयोजनसम्बन्धाधिकारिज्ञानमन्तरेण श्रोतृप्रवृत्त्यभावात् विषयादयो निरूप्यन्ते । व्याख्यानस्य व्याख्येयो वेदो विषयः । तदर्थज्ञानं प्रयोजनम् । व्याख्यानव्याख्येयभावः सम्बन्धः । ज्ञानार्थी चाधिकारी । यद्यप्येतावत् प्रसिद्धं तथापि वेदस्य विषयाद्यभावे व्याख्यानस्यापि परमविषयादिकं न स्यात् । अतो वेदस्य तच्चतुष्टयमुच्यते ।

अ०—विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध तथा अधिकारी के बिना श्रोता की प्रवृत्ति नहीं हो सकती इसलिए विषय आदि का निरूपण करते हैं । व्याख्यान का व्याख्येय वेद ही विषय है । उसके अर्थ का ज्ञान प्रयोजन है । व्याख्यान-व्याख्येय भाव सम्बन्ध है और ज्ञानार्थी अधिकारी है । यद्यपि ये चारों प्रसिद्ध हैं तथापि, वेद के विषय आदि के अभाव में व्याख्यान का भी विषयादि सम्भव नहीं हो सकते । अतः वेद के उन चारों (अनुबन्धों) को कहा जाता है ।

वेदे पूर्वोत्तरकाण्डयोः क्रमेण धर्मब्रह्मणी विषयः, तयोरनन्यलभ्यत्वात् । तथा च पुरुषार्थानुशासने सूत्रितं—'धर्मब्रह्मणी वेदैकवेद्ये' इति । जैमिनीये च द्वितीयसूत्रे 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्', 'चोदना प्रमाणमेव' इति नियमद्वयं संप्रदायविद्भिरभिहितम् । चोदनैवेत्यमुमर्थमुपपादयितुं चतुर्थसूत्रे प्रत्यक्षविषयत्वं धर्मस्य निराकृतम्—'प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्' (जै० सू० १।१।४) इति । अनुष्ठानादूर्ध्वमुत्पत्स्यमानस्य धर्मस्य पूर्वमविद्यमानत्वात् न प्रत्यक्षयोग्यतास्ति । उत्तरकालेऽपि रूपादिराहित्यात् नेन्द्रियैरवगम्यते । अत एव अदृष्टमिति सर्वैरभिधीयते । लिङ्गराहित्यात् नानुमानविषयत्वमप्यस्ति । सुखदुःखे धर्माधर्मयोर्लिङ्गमिति चेत्, बाढम् । अयमपि लिङ्गलिङ्गिभावो वेदेनैव गम्यते । ततश्चोदनैव धर्मे प्रमाणम् ।

अ०—वेद में क्रमशः पूर्वकाण्ड में धर्म और उत्तरकाण्ड में ब्रह्म विषय हैं क्योंकि धर्म और ब्रह्म किसी अन्य उपाय से प्राप्त नहीं हो सकते। इसी आशय का पुरुषार्थानुशासन में सूत्र भी है—'धर्म और ब्रह्म केवल वेद से ही जानने योग्य हैं।' जैमिनि के दूसरे सूत्र में 'चोदनैव (वेदएव) धर्मे प्रमाणम्, चोदना प्रमाण-मेव' इन दोनों नियमों को सम्प्रदायविद् लोगों ने कहा है। 'चोदनैव' इस अर्थ-को प्रतिपादित करने के लिए चौथे सूत्र में धर्म प्रत्यक्ष विषय है, इसका निरा-करण किया गया है—'धर्म के विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण विद्यमान को ही प्राप्त कराता है' (प्रत्यक्ष प्रमाण से विद्यमान वस्तु का ही ग्रहण होता है) किन्तु धर्म ही अनुष्ठान के बाद उत्पन्न होने वाला है, अतः पहले से विद्यमान नहीं रहता और इसीलिए वह प्रत्यक्ष प्रकरण का विषय नहीं है। उत्पन्न होने के बाद भी धर्म में रूप आदि के न रहने से वह इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जाता है। अतएव सब लोग अदृष्ट, ऐसा कहते हैं। लिंग के अभाव में वह धर्म अनुमान का विषय भी नहीं हैं। यदि कोई यह कहे कि धर्म और अधर्म में सुख और दुःख लिंग हैं तो उसका समाधान देते हैं—ठीक है! यह भी लिङ्ग-लिङ्गिभाव वेद से ही जाना जा सकता है। अतः 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' अर्थात् वेद ही धर्म में प्रमाण है।

वैयासिकस्य तृतीयसूत्रस्य द्वितीयवर्णके ब्रह्मणः सिद्धवस्तुनोऽपि शास्त्रैकविषयत्वं भाष्यकृद्भिर्व्याख्यातम्—'शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यते इत्यभिप्रायः'। (ब्र० सू० शां० भा० १।१।३ इति। श्रुतिश्च भवति—'नावेदविन्मनुते तं० बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३।१२-९।७) इति। तत्रोपपत्तिः पूर्वाचार्यैरेवमुदीरिता—'रूपलिङ्गादिराहि-त्यान्न मानान्तरयोग्यता' (वै० न्या० १।१।३।१८) इति। तस्मात् अन-न्यलभ्यत्वादस्ति धर्मब्रह्मणोर्वेदविषयत्वम्।

अ०—व्यास की उत्तर मीमांसा के तृतीयसूत्र के द्वितीय वर्णक में सिद्ध वस्तु भी ब्रह्म का, (ब्रह्म सनातन है अतः वह धर्म की तरह उत्पन्न नहीं होता अपितु सदा विद्यमान रहता है) भाष्यकारों ने, केवल शास्त्रविषयत्व ही है, ऐसा व्याख्यान किया है—'शास्त्रप्रमाण से ही जगत् के जन्म आदि का कारण ब्रह्म समझा जाता है, यह अभिप्राय है। श्रुति भी है—'वेद को न जानने वाला उस वृहत् तत्त्व को नहीं समझ सकता हैं।' पूर्वाचार्यों ने उस प्रसङ्ग में इस प्रकार उपपत्ति कही है—'रूप लिङ्ग आदि के अभाव के कारण ब्रह्म में अन्य प्रमाणों का विषय होने की योग्यता नहीं है।' अतः दूसरे प्रमाणों से प्राप्य न होने के कारण धर्म और ब्रह्म दोनों वेद के विषय हैं।

तदुभयज्ञानं वेदस्य साक्षात् प्रयोजनम् । न च तस्य ज्ञानस्य 'सप्तद्वीपा वसुमती', 'राजासौ गच्छति' इत्यादिज्ञानवत् अपुरुषार्थपर्यवसायित्वं शङ्कनीयम् । धर्मप्रयुक्तस्य पुरुषार्थस्य स्तूयमानत्वात् 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति धर्मेण पापमपनुदति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात् धर्मं परमं वदन्ति' (तै० आ० १०।६३) इति । उद्दण्डस्य राज्ञो नियामकत्वात् विवदमानयोः पुरुषयोर्मध्ये दुर्वलस्यापि राजसाहाय्यवत् जयहेतुत्वाच्च धर्मः पुरुषार्थः । तथा च वाजसनेयिनः सृष्टिप्रकरणे समामनन्ति—'तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यन्योऽबलीयान्बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवम् (बृ० उ० १।४।१४) इति । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० आ० ८।२) 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुं० उ० ३।२।९), 'तरति शोकमात्मवित्' (छां० उ० ७।१।३) इत्यादि श्रुतिषु ब्रह्मज्ञानप्रयुक्तः पुरुषार्थः प्रसिद्धः । तदुभयज्ञानार्थी वेदेऽधिकारी । स च त्रैवर्णिकः पुरुषः । स्त्रीशूद्रयोस्तु सत्यामपि ज्ञानापेक्षायामुपनयनाभावेन अध्ययनराहित्यात् वेदेऽधिकारः प्रतिवद्धः । धर्मब्रह्मज्ञानं तु पुराणादिमुखेनोत्पद्यते । तस्मात् त्रैवर्णिकपुरुषाणां वेदमुखेनार्थज्ञानेऽधिकारः ।

अ०—उन दोनों का ज्ञान वेद का साक्षात् प्रयोजन है । ब्रह्मज्ञान, सप्तद्वीपा वसुमती', 'राजासौ गच्छति' इत्यादि ज्ञानों की तरह, अपुरुषार्थपर्यवसायी है ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि धर्मप्रवृत्त पुरुषार्थ की स्तुति की जाती है—'धर्म सम्पूर्ण जगत् की प्रतिष्ठा (आधार) है, संसार में प्रजा धर्मिष्ठ के पास जाती है, धर्म से ही पाप का अपनोदन (दूरीकरण) होता है, धर्म में ही सभी कुछ आधृत हैं । इसलिए विशेषज्ञ धर्म को ही परमतत्त्व कहते हैं ।' उद्दण्ड राजा का भी नियामक होने के कारण झगड़ते हुए दो पुरुषों के बीच में दुर्वल के लिए राज सहायता की तरह जय का हेतु होने के कारण धर्म पुरुषार्थ है । वाजसनेयी संहिता के अध्येता सृष्टि प्रकरण में इसी तरह की बात कहते हैं—'श्रेयोरूप धर्म की सृष्टि हुयी । वह धर्म क्षत्रिय का भी क्षत्र (नियामक) है अतः धर्म से बढ़कर कोई चीज नहीं है, दुर्वल भी धर्म से बलवान् को जीत लेता है जैसे राजा की सहायता से (दुर्वल बली को जीतता है) ।' 'ब्रह्मवित् पुरुष परमतत्त्व को प्राप्त करता है', ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है', ब्रह्मवित् शोक को पार कर लेता है', इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्मज्ञान प्रयुक्त पुरुषार्थ प्रसिद्ध है । अतः इन दोनों की (धर्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान) इच्छा करनेवाला वेद का अधिकारी है । वह त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) पुरुष है । स्त्री और शूद्र का तो ज्ञान की

अपेक्षा रहनें पर भी उपनयन के अभाव में अध्ययन के अभाव के कारण वेद में अधिकार का प्रतिषेध (निषेध) है। उन लोगों को धर्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान पुराण आदि के द्वारा उपपन्न हो ही जाता है, इसलिए त्रैर्वाणिक पुरुषों का वेद के द्वारा अर्थज्ञान में अधिकार है।

सम्बन्धस्तु वेदस्य धर्मब्रह्मभ्यां सह प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः। तदीयज्ञानेन सह जन्यजनकभावः। त्रैवर्णिकपुरुषैः सहोपकार्योपकारकभावः। तदेवं विषयाद्यनुबन्धचतुष्टयमवगत्यसमाहितधियः श्रोतारो वेदव्याख्याने प्रवर्तन्ताम्।

अ०—सम्बन्ध की व्याख्या करते हैं। वेद का धर्म और ब्रह्म के साथ प्रतिपाद्यप्रतिपादक भाव सम्बन्ध है (वेद प्रतिपादक और धर्म तथा ब्रह्म प्रतिपाद्य हैं) धर्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान के साथ वेद का जन्यजनक भाव सम्बन्ध है। वेद जनक तथा धर्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान जन्य हैं)। त्रैर्वणिक पुरुषों के साथ वेद का उपकार्य उपकारक भाव सम्बन्ध है (त्रैर्वणिक पुरुष उपकार्य और वेद उपकारक हैं)। सो इस प्रकार विषय आदि अनुबन्धचतुष्टय को समझकर एकाग्रबुद्धि वाले श्रोता वेद व्याख्यान में प्रवृत्त हों।

अपर विद्या स्वरूप वेदाङ्गों का निरूपण

अतिगम्भीरस्य वेदस्यार्थमवबोधयितुं शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि अत एव तेषामपरविद्यारूपत्वं मुण्डकोपनिषद्याथर्वणिका आमनन्ति—'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' (मुं० उ० १।१।४–५) इति। साधनभूतधर्मज्ञानहेतुत्वात् षडङ्गसहितानां कर्मकाण्डानामपरविद्यात्वम्। परमपुरुषार्थभूतब्रह्मज्ञानहेतुत्वात् उपनिषदां परविद्यात्वम्।

अ०—अत्यन्त गम्भीर वेदों के अर्थ को समझने के लिए शिक्षा आदि छह अङ्ग प्रवृत्त होते हैं। इसीलिए, वे अपरविद्या रूप हैं, आथर्वणिक मुण्डकोपनिषद् में कहते हैं—'दो विद्यायें समझनी चाहिए, जैसा कि ब्रह्मविद् लोग कहते हैं—परा और अपरा। उनमें अपरा विद्या में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष है और परा विद्या वह है जिससे अक्षर (ब्रह्म) को जाना जाता है'। साधनभूत धर्मज्ञान का हेतु होने के कारण षडङ्ग सहित कर्मकाण्डों को भी अपरविद्या माना गया है। परमपुरुषार्थ

भूत ब्रह्मज्ञान के हेतु होने के कारण उपनिषदों को परविद्या कहते हैं।

वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा। तथा च तैत्तिरीया उपनिषदारम्भे समामनन्ति-'शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलं, साम, संतान इत्युक्तः शीक्षाध्यायः' (तै० उ० १।१) इति। वर्णोऽकारादिः। स च अङ्गभूतशिक्षाग्रन्थे स्पष्टमुदीरितः—

'त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा॥'
(पा० शि० ३) इत्यादि।

स्वर उदात्तादिः। सोऽपि तत्रोक्तः—

'उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः' (पा० शि० ११) इति।

मात्रा ह्रस्वादिः। सापि तत्रोक्ता—

'ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि' (पा० शि० ११) इति

बलं स्थानप्रयत्नौ। तत्र 'अष्टौ स्थानानि वर्णानाम्' (पा० शि० ५३) इत्यादिना स्थानमुक्तम्। 'अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषत्' (पा० शि० ३५) इत्यादिना प्रयत्न उक्तः।

अ०—वर्ण, स्वर आदि के उच्चारण का प्रकार जहाँ उपदिष्ट हो वह शिक्षा है। तैत्तिरीय शाखा के अध्येता उपनिषद् के आरम्भ में कहते हैं—शिक्षाध्याय कह दिया गया।' अकारादि वर्ण हैं और वह अंगभूत शिक्षाग्रन्थ में स्पष्ट कहा गया है—

'शम्भु के मत में तिरसठ अथवा चौसठ वर्ण हैं। स्वयं स्वयम्भू ने प्राकृत और संस्कृत में भी उन्हें कहा है'।

उदात्त आदि स्वर हैं। वे भी वहाँ कहे गये हैं—

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन स्वर हैं'। ह्रस्व आदि मात्रा हैं, वह भी वहाँ कही गयी है—

'अचों (स्वरों) में काल के कारण (अचों के उच्चारण में लगने वाले के कारण) ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत ये तीन मात्रायें होती हैं।' स्थान और प्रयत्न बल हैं। उसके विषय में 'वर्णों के आठ स्थान हैं' इत्यादि से स्थान कहा गया है और 'अच् अस्पृष्ट और यण् (य् व् र् ल) ईषत्स्पृष्ट हैं' इत्यादि से प्रयत्न कहा गया है।

सामशब्देन साम्यमुक्तम्। अतिद्रुतातिविलम्बितगीत्यादिदोषराहित्येन माधुर्यादिगुणयुक्तत्वेन चोच्चारणं साम्यम्। 'गीती शीघ्री शिरःकम्पी' (पा० शि० ३२) इत्यादिना 'उपांशु दष्टं त्वरितम्' (पा० शि० ३५)

इत्यादिना च दोषा उक्ताः। 'माधुर्यमक्षरव्यक्तिः' (पा० शि० ३३) इत्यादिना गुणा उक्ताः।

अ०—साम्य को साम शब्द से कहते हैं। अतिशीघ्र, अतिविलम्बित, गीती आदि दोषों से रहित और माधुर्य आदि गुण से युक्त उच्चारण को साम्य कहते हैं। 'गीती शीघ्री शिरःकम्पी' इत्यादि से तथा 'उपांशु दष्टं त्वरितम्' इत्यादि से दोष कहे गये हैं। 'माधुर्यमक्षरव्यक्तिः' इत्यादि से गुण कहे गये हैं।

संतानः संहिता। 'वायवायाहि' (ऋ० सं० १।२।१) इत्यत्र अवादेशः। 'इन्द्राग्नी आ गतम्' (ऋ० सं० ३।१२।१) इत्यत्र प्रकृतिभावः। एतच्च व्याकरणेऽभिहितत्वात् शिक्षायामुपेक्षितम्। शिक्ष्यमाणवर्णातिवैकल्ये बाधस्तत्रोदाहृतः—

'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्'॥
(पा० शि० ५०) इति।

'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' (तै० सं० २।४।१२।१) इत्यस्मिन्मन्त्रे इन्द्रस्य शत्रुर्घातकः इत्यस्मिन् विवक्षितेऽर्थे तत्पुरुषसमासे 'समासस्य' (पा० सू० ६।१।२२३) इति सूत्रेण तत्पुरुषत्वात् अन्तोदात्तेन भवितव्यम्। आद्युदात्तस्तु प्रयुक्तः। तथा सति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन बहुव्रीहित्वात् इन्द्रो घातको यस्य इत्यर्थः संपन्नः। तस्मात् स्वरवर्णाद्यपराधपरिहाराय शिक्षाग्रन्थोऽपेक्षितः।

अ०—संहिता (अतिशय पदसन्निधि) को संतान कहते हैं। 'वायो आयाहि' इस स्थिति में अव् आदेश होकर 'वायवायाहि' यह ऋग्वेद का मन्त्रांश बनता है। 'इन्द्राग्नी आगतम्' यहाँ प्रकृतिभाव सन्धि है (अन्यथा नकारोत्तरवर्ती ईकार के स्थान पर य् हो गया होता)। यतः यह सब व्याकरणशास्त्र में कह दिया गया है अतः शिक्षा में इसकी उपेक्षा की गयी है। शिक्ष्यमाण वर्णों के दोषपूर्ण होने से जो दोष होता है उसे शिक्षा में ही उदाहृत किया गया है—

'स्वर से अथवा वर्ण से हीन जो मन्त्र वह मिथ्याप्रयुक्त (अशुद्ध प्रयोग वाला) होकर उस (अभीष्ट) अर्थ को नहीं कहता है प्रत्युत वह वाग्वज्र होकर यजमान को ही मारता है जैसे स्वर के अपराध से इन्द्रशत्रु शब्द।'

'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व[1]' इस मन्त्र में 'इन्द्रस्य शत्रुः=घातकः' इस विवक्षित अर्थ

१. अति प्राचीनकाल में त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को किसी अज्ञात कारण से इन्द्र ने मार डाला। त्वष्टा ने कुपित होकर 'स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' अर्थात् हे अग्निदेव

में तत्पुरुष समास करने पर 'समासस्य' इस पाणिनि सूत्र से तत्पुरुष होने के कारण 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' इसे अन्तोदात्त होना चाहिये किन्तु आद्युदात्त का प्रयोग किया गया है और ऐसा प्रयोग करने पर पूर्वप्रकृतिस्वर होने के कारण बहुव्रीहि होने से 'इन्द्रः शत्रुः = घातको यस्य' ऐसा अर्थ सम्पन्न होगा। अतः स्वर, वर्ण आदि के अपराध के परिहार के लिए शिक्षा ग्रन्थ अपेक्षित हैं।

कल्पस्तु आश्वलायनापस्तम्बबोधायनादिसूत्रम्। कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्रेति व्युत्पत्तेः।

ननु आश्वलायनः किं मन्त्रकाण्डमनुसृत्य प्रवृत्तः किं वा ब्राह्मणमनुसृत्य। नाद्यः। 'दर्शपूर्णमासौ तु पूर्वं व्याख्यास्यामः' (आश्व० श्रौ० सू० १।१) इत्येवं तेनोपक्रान्तत्वात्। न हि 'अग्निमीळे' (ऋ० सं० १।१।१) इत्यादयो मन्त्रा दर्शपूर्णमासयोः क्वचिद्विनियुक्ताः। न द्वितीयः 'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयमेकादशकपालम्' (ऐ० ब्रा० १।१) इत्येवं दीक्षणीयेष्टेः ब्राह्मणे प्रक्रान्तत्वात्।

अ०—आश्वलायन, आपस्तम्ब और बौधायन आदि सूत्र कल्प कहलाते हैं क्योंकि कल्प की व्युत्पत्ति यह है कि जिससे याग के प्रयोगों का समर्थन हो, वह कल्प कहलाता है। शङ्का करते हैं कि क्या आश्वलायन मन्त्रकाण्ड का अनुसरण करके प्रवृत्त हुआ है अथवा ब्राह्मण का अनुसरण करके। इसमें पहला (मन्त्रकाण्ड का अनुसरण) नहीं हो सकता क्योंकि आश्वलायन ने दर्श और पूर्णमास की व्याख्या से ही अपने श्रौतसूत्र का प्रारम्भ किया है। दर्श अथवा पूर्णमास किसी में भी 'अग्निमीळे०' इत्यादि मन्त्रों का विनियोग नहीं हुआ है। दूसरा (ब्राह्मण का

तुम्हारे लिए हम लोग हवि का त्याग करते हैं। तुम इन्द्र का शत्रु = घातक (भावी वृत्रासूर के रूप में) होकर बढ़ो, इस मन्त्र से यज्ञ कराया। इस विवक्षित अर्थ में षष्ठी तत्पुरुष होने के कारण उपर्युक्त रीति से उक्त मन्त्र में अन्तोदात्त होगा, किन्तु ऋत्विजों ने, अनवधानता से या बुद्धिपूर्वक वैसा करने से, उक्त मन्त्र को आद्युदात्त पढ़ा। आद्युदात्त तभी सम्भव है जब 'इन्द्रशत्रु' शब्द में 'इन्द्रः शत्रुः यस्य' ऐसा बहुव्रीहि समास किया जाय। ऐसा करने से परिणाम यह हुआ कि विवक्षित अर्थ और इस अर्थ में महान् अन्तर हो गया। विवक्षित अर्थ यह था कि इन्द्र का शत्रु अर्थात् घातक होकर अग्नि बढ़े और आद्युदात्त वाले का यह अर्थ हुआ कि इन्द्र है घातक जिस का वह बढ़े। अब वृत्रासुर के बढ़ने पर भी इन्द्र का घातकत्व बाधित नहीं हो पाया। वृत्रासुर का बढ़ना तो सिद्ध हुआ किन्तु इन्द्र का घातकत्व बना रहा तथा वृत्रासुर मारा गया।

अनुसरण) भी नहीं हो सकता क्योंकि 'आग्नावैष्णवमे····दीक्षणीयम्', इस प्रकार दीक्षणीया इष्टि से ब्राह्मण का प्रारम्भ हुआ है।

अत्रोच्यते-मन्त्रकाण्डो ब्रह्मयज्ञादिजपक्रमेण प्रवृत्तो न तु यागानुष्ठानक्रमेण। ब्रह्मयज्ञश्चैवं विहितः-'यत् स्वाध्यायमधीयीतैकामप्यृचं यजुः साम वा तद् ब्रह्मयज्ञः' (तै० आ० २।१०) इति। सोऽयं ब्रह्मयज्ञजपः 'अग्निमीळे' इत्याम्नायक्रमेणैवानुष्ठेयः। तथा सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि 'वाचः स्तोमे पारिप्लवं शंसन्ति' इति विधीयते। तथाश्विने शस्यमाने 'सूर्यो नोदियादपि सर्वा दाशतयीरनुब्रूयात्' (आप० श्रौतसूत्र १४।१।२) इति विधीयते। तथा 'रिच्यत इव वा एष प्रेवरिच्यते, यो याजयति प्रति वा गृह्णाति याजयित्वा प्रतिगृह्य वानश्नन् त्रिः स्वाध्यायं वेदमधीयीत' (तै० आ० २।२६) इति प्रायश्चित्तरूपं वेदपारायणं विहितम्। इत्यादिषु कृत्स्नमन्त्रकाण्डविनियोगेषु संप्रदायपारंपर्यागत एव क्रम आदरणीयः।

अ०—इस प्रसंग में कहते हैं। मन्त्रकाण्ड ब्रह्मयज्ञादि के जप के क्रम से प्रवृत्त हुआ है याग के अनुष्ठान के क्रम से नहीं। और वह ब्रह्मयज्ञ इस प्रकार कहा गया है—'(पुरुष) जो कुछ भी स्वाध्याय का अध्ययन करता है—एक ही ऋचा, एक ही यजु अथवा एक ही साम—वह सब कुछ ब्रह्मयज्ञ है।' वह ब्रह्मयज्ञ जप 'अग्निमीळे' इस आम्नायक्रम से ही अनुष्ठेय है। इसी प्रकार सभी ऋचायें, सभी यजु, सभी सामों को 'वाचस्तोमे पारिप्लवं शंसन्ति' इस वाक्य से विधान किया गया है। तथा आश्विन में सम्पन्न किया जाने वाला होनेपर, 'जब तक सूर्य उदित न हों तब तक सभी दाशतयी (दाशमण्डलात्मक ऋग्वेद की ऋचाओं) का पाठ कर ले', ऐसा विधान किया गया है। इसी प्रकार 'जो अनुचित यज्ञ कराता है अथवा अग्राह्य वस्तु का प्रतिग्रह लेता है, वह रिक्त हो जाता है, उसे प्रतिग्रह लेकर बिना भोजन किये वेद का तीन बार स्वाध्याय करना चाहिये', इस प्रकार प्रायश्चित्त रूप वेद पारायण का विधान है इत्यादि सम्पूर्ण मन्त्रकाण्ड के विनियोगों में सम्प्रदाय परम्परा से प्राप्त क्रम का ही आदर करना चाहिये।

विशेषविनियोगांस्तु मन्त्रविशेषाणां श्रुतिलिङ्गवाक्यादिप्रमाणान्युपजीव्य आश्वलायनो दर्शयति। अतो मन्त्रकाण्डक्रमाभावेऽपि न कश्चिद्विरोधः।

'इषे त्वा' इत्यादिमन्त्रास्तु क्रत्वनुष्ठानक्रमेणैवाम्नाता इत्यापस्तम्बादयस्तेनैव क्रमेण सूत्रनिर्माणे प्रवृत्ताः। आम्नातत्वादेव जपादिष्वपि स एव क्रमः। यद्यपि ब्राह्मणे दीक्षणीयेष्टिरुपक्रान्ता, तथापि तस्या इष्टेर्दर्श-

पूर्णमासादिकृतित्वेन तदपेक्षत्वात् आश्वलायनस्य आदौ तद्व्याख्यानं युक्तम् । अतः कल्पसूत्रं मन्त्रविनियोगेन क्रत्वनुष्ठानमुपदिश्य उपकरोति ।

अ०—मन्त्र विशेषों के विशेष विनियोगों को तो; श्रुति, लिङ्ग, वाक्य आदि प्रमाणों को साधक मानकर; आश्वलायन ने प्रदर्शित किया है । अतः मन्त्रकाण्ड के क्रम का अभाव होने पर भी कोई विरोध नहीं है ।

यजुर्वेद के 'इषे त्वा' इत्यादि मन्त्र तो क्रतु के अनुष्ठान के क्रम से ही कहे गये हैं । अतएव आपस्तम्ब आदि उसी क्रम से सूत्र निर्माण में प्रवृत्त हुए हैं । यतः वे उसी क्रम में कथित हैं अतः जप आदि में भी वही क्रम होना चाहिये । यद्यपि ब्राह्मण दीक्षणीया इष्टि से प्रारम्भ हुआ है तथापि वह इष्टि दर्शपूर्णमास की विकृति है, इसलिए दर्शपूर्णमास की अपेक्षा होने के कारण आश्वलायन ने प्रारम्भ में उसका जो व्याख्यान किया है, वह युक्त ही है । अतः कल्पसूत्र, मन्त्र विनियोग की सहायता से याग के अनुष्ठान का उपदेश करके उपकारक होता है ।

तर्हि 'प्र वो वाजा' (ऋ० सं० ३।२७।१) इत्यादीनां सामिधेनीनामृचामेव विनियोगमाश्वलायनो ब्रवीतु । 'नमः प्रवक्त्रे' (आश्व० श्रौ० सू० १।२) इत्यादयस्त्वनाम्नाताः कुतो विनियुज्यन्ते इति चेत्, नायं दोषः । शाखान्तरसमाम्नातानां ब्राह्मणान्तरसिद्धस्य विनियोगस्य गुणोपसंहारन्यायेनात्र वक्तव्यत्वात् । 'सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्म' इति न्यायविदः । तस्मात् शिक्षेव कल्पोऽपि अपेक्षितः ।

अ०—तब तो 'प्र वो वाजा' इत्यादि सामिधेनी ऋचाओं का ही विनियोग आश्वलायन कहें, 'नमः प्रवक्त्रे' इत्यादि तो नहीं कही गयी है, भला इनका विनियोग कैसे बतलाते हैं ? ऐसी यदि शङ्का करें तो कहते हैं कि यह दोष नहीं है क्योंकि दूसरी शाखाओं में समाम्नात और ब्राह्मणान्तर से सिद्ध विनियोग का गुणोपसंहारन्याय (विभिन्न शाखाओं में विहित अंगों को एकत्र कर लेना गुणोपसंहार कहलाता है ।) से यहाँ कहना उचित ही है । न्यायविद लोग सभी शाखाओं से ज्ञात कर्म को एक ही मानते हैं (शाखा के भिन्न होने से कर्म भिन्न नहीं होता है ।) इसलिए शिक्षा की तरह ही कल्प भी अपेक्षित है ।

व्याकरणमपि प्रकृतिप्रत्ययाद्युपदेशेन पदस्वरूपतदर्थनिश्चयायोपयुज्यते । तथा च ऐन्द्रवायवग्रहब्राह्मणे समाम्नायते—'वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति । सोऽब्रवीद्वरं वृणै मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति तस्मादैन्द्रवायवः सह गृह्यते । तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् । तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते' (तै० सं० ६।४।७३)

इति। 'अग्निमीळे पुरोहितम्' (ऋ० सं० १।१।१) इत्यादिवाक पूर्वस्मिन् काले पराची समुद्रादिध्वनिवदेकात्मिका सती अव्याकृता प्रकृतिः प्रत्ययः पदं वाक्यमित्यादिविभागकारिग्रन्थरहिता आसीत्। तदानीं देवैः प्रार्थित इन्द्र एकस्मिन्नेव पात्रे वायोः स्वस्य च सोमरसग्रहणरूपेण वरेण तुष्टः तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययादिविभागं सर्वत्राकरोत्। तस्मादियं वाक् इदानीमपि पाणिन्यादिमहर्षिभिर्व्याकृता सर्वैः पठ्यते इत्यर्थः।

अ०—प्रकृति-प्रत्यय आदि के उपदेश के द्वारा पद के स्वरूप और उसके अर्थ के निश्चय के लिए व्याकरण का भी उपयोग किया जाता है। ऐन्द्रवायवग्रह ब्राह्मण में इसी प्रकार कहा जाता है—'प्राचीन काल में वाक् अव्याकृत थी, देवताओं ने इन्द्र से कहा—'इस वाणी को हम लोगों के लिए व्याकृत कीजिये।' उस (इन्द्र) ने कहा—मैं एक वर चाहता हूँ। मेरे लिए और वायु के लिए साथ ही सोम दिया जाय। इसीलिए इन्द्र और वायु साथ ही सोमरस का ग्रहण करते हैं। उस वाणी को इन्द्र ने बीच से ही तोड़ कर व्याकृत कर दिया। इसीलिए यह व्याकृत वाणी कही जाती है।' 'अग्निमीळे पुरोहितं' इत्यादि वाक् पहले समुद्र आदि की ध्वनि की तरह एकात्मक तथा अनिश्चित होती हुयी अव्याकृत; प्रकृति, प्रत्यय, पद, वाक्य इत्यादि विभाग करने वाले ग्रन्थ से रहित थी। उस समय देवताओं के द्वारा प्रार्थित इन्द्र ने, एक ही पात्र में वायु और अपने लिए सोमरस ग्रहण रूप वर से सन्तुष्ट होकर, उस अखण्ड वाणी को मध्य से तोड़कर सभी जगह प्रकृति प्रत्यय आदि का विभाग किया। इसलिए यह वाणी इस समय भी पाणिनि आदि महर्षियों के द्वारा व्याकृत (प्रकृति प्रत्यय विभाग वाली) सभी के द्वारा पढ़ी जाती है।

तस्यैतस्य व्याकरणस्य प्रयोजनविशेषो वररुचिना वार्तिके दर्शितः—'रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्' इति। एतानि रक्षादिप्रयोजनानि प्रयोजनान्तराणि च महाभाष्ये पतञ्जलिना स्पष्टीकृतानि। रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यक् वेदान् परिपालयिष्यति वेदार्थं चाध्यवस्यति। ऊहः खल्वपि न सर्वैर्लिङ्गैर्न सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन यथायथं विपरिणमयितव्याः। तान् नावैयाकरणः शक्नोति विपरिणमयितुम्। तस्मादध्येयं व्याकरणम्।

अ०—उसी व्याकरण का प्रयोजन विशेष, वररुचि ने, वार्तिक में दिखाया है—'रक्षा-ऊह-आगम-लघु-असन्देहाः प्रयोजनम्।' ये रक्षा आदि प्रयोजन और

दूसरे भी प्रयोजन महाभाष्य में महर्षि पतञ्जलि के द्वारा स्पष्ट कर दिये गये हैं। वेद की रक्षा के लिए व्याकरण पढ़ना चाहिये। लोप, आगम, वर्णविकार को जानने वाला ही सम्यक् वेदों का पालन करेगा और वेद के अर्थ को समझेगा। ऊह भी प्रयोजन है। वेद में सभी मन्त्र सभी लिङ्गों तथा सभी विभक्तियों के साथ नहीं कहे गये हैं और वे अवश्य ही यज्ञ करने वाले के द्वारा यथोचित विपरिणाम करने योग्य हैं किन्तु जो व्याकरण नहीं जानता वह उन्हें विपरिणाम करने में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये।

आगमः खल्वपि 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति। प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति। लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम्। बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च वक्ता। इन्द्रश्च अध्येता। दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः। अन्तं च न जगाम। अद्य तु पुनर्यदि परमायुर्भवति स वर्षशतं जीवति तत्र कुतः प्रतिपदपाठेन सकलपदावगमः। कुतस्तरां प्रयोगेण। असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्। याज्ञिकाः पठन्ति—'स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत' इति। तत्र न ज्ञायते किं स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा स्थूलपृषती, किंवा स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषतीति। तां नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति। यदि समासान्तोदात्तत्वं तदा कर्मधारयः, अथ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिरिति।

अ०—आगम भी प्रयोजन है। ब्रह्मण के द्वारा निष्कारण धर्म और षडङ्ग वेद का अध्ययन और ज्ञान करना चाहिये। व्याकरण छहों अङ्गों में प्रधान है और प्रधान में किया हुआ प्रयत्न फलवान् होता है। लघु (सरलता) के लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये। वृहस्पति ने इन्द्र के लिए एक हजार दिव्य[1] वर्ष तक शब्दों का प्रतिपदोक्त शब्द पारायण किया किन्तु अन्त को नहीं प्राप्त किये। वृह-

---

१. दिव्य वर्ष का वर्णन 'सूर्य सिद्धान्त' में इस प्रकार है—

षड्भिः प्राणैर्विनाडी स्यात् तत्षष्ट्या नाडिका स्मृता ॥११॥ नाडीषष्ट्या तु नाक्षत्रमहोरात्रं प्रकीर्त्तितम्। तत्त्रिंशता भवेन्मासः सावनोऽर्कोदयैस्तथा ॥१२॥ ऐन्दवस्तिथिभिस्तद्वत् संक्रान्त्या सौर उच्यते। मासैर्द्वादशभिर्वर्षं नित्यं तदह उच्यते ॥१३॥सुरासुराणामन्योन्यमहोरात्रं विपर्ययात्। तत्षष्टिः षड्गुणा दिव्यं वर्षमासुरमेव च ॥१४॥

मनुष्य का एक वर्ष दिव्य अहोरात्र है। और इस ३६० अहोरात्र का एक व्दियवर्ष होता है।

स्पति वक्ता है, इन्द्र अध्येता है, एक हजार दिव्य वर्ष अध्ययन का समय है। किन्तु अन्त की प्राप्ति नहीं हुयी। आजकल तो यदि बहुत अधिक आयु होती है तो वह सौ वर्ष तक जीता है तो कहाँ से प्रत्येक पदों के पाठ से सकल पदों का ज्ञान हो सकता है। उन पदों के प्रयोग से भला कैसे (सकल पदों का ज्ञान हो सकता है)। असन्देह के लिए भी व्याकरण पढ़ना चाहिये अर्थात् असन्देह भी व्याकरण का प्रयोजन है। याज्ञिक लोग पढ़ते हैं—'स्थूलपृषती गाय को अग्नि तथा वरुण देवताओं के उद्देश्य से आलम्भन करे' किन्तु यहाँ यह नहीं पता चलता कि 'स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा स्थूलपृषती' यह बहुव्रीहि समास किया जाय अथवा 'स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती' यह कर्मधारय। व्याकरण को न जानने वाला स्वर के आधार पर 'स्थूलपृषती' के विवाद का निर्णय नहीं कर सकता कि यदि 'स्थूलपृषती' शब्द में अन्तोदात्तत्व है तो कर्मधारय होगा और यदि पूर्वपद-प्रकृति स्वरत्व (आधुदात्तत्व) है तो बहुव्रीहि होगा।

इमानि च भूयः शब्दानुशासनप्रयोजनाति। तेऽसुराः। दुष्टः शब्दः। यदधीतम्। यस्तु प्रयुङ्क्ते। अविद्वांसः। विभक्तिं कुर्वन्ति। यो वा इमाम् चत्वारि। उत त्वः। सक्तुमिव। सारस्वतीम्। दशम्यां पुत्रस्य। सुदेवो असि वरुण इति।

तेऽसुराः—

तेऽसुराः हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः। तस्मात् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै। म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्।

अ०—शब्दानुशासन (व्याकरण) के ये भी (गौण) प्रयोजन कहे जाते हैं 'तेऽसुराः, दुष्टः शब्दः, यदधीतम्, यस्तु प्रयुंक्ते, अविद्वांसः, विभक्तिं कुर्वन्ति, यो वा इमाम्, चत्वारि, उत त्वः, सक्तुमिव, सारस्वतीम्, दशम्यां पुत्रस्य, सुदेवोऽसि वरुण' इति।

तेऽसुराः—वे असुर 'हेलयः, हेलयः' (हेऽरयः, हेऽरयः) करते हुए पराजित हो गये इसलिए ब्राह्मण को म्लेच्छ और अपभ्रष्ट शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। जो अपशब्द है वह म्लेच्छ बना देता है। हमलोग म्लेच्छ न हों इस लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये।

दुष्टः शब्दः—

'दुष्टः' शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥
(पा० शि० ५२)

दुष्टान् शब्दान् मा प्रयुक्ष्महीत्यध्येयं व्याकरणम् ।

अ०—स्वर की दृष्टि से अथवा वर्ण की दृष्टि से दोष युक्त शब्द जो व्यर्थ प्रयुक्त है वह अभीष्ट अर्थ को नहीं कहता है प्रत्युत वह वाग्वज्र होकर यजमान को मार डालता है। जैसे—स्वर के अपराध से हीं 'स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' मन्त्र का अर्थ विपरीत हो गया। दुष्ट शब्दों का प्रयोग न करें इसके लिए व्याकरण पढ़ना चाहिये।

यदधीतम्—

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥
अविज्ञातमनर्थकं माधिगीष्महीत्यध्येयं व्याकरणम् ।

अ०—जो वेदवाक्य आचार्यमुख से गृहीत है किन्तु उसका अर्थज्ञान नहीं प्राप्त किया गया है और बारबार अर्थरहित उसका पाठ किया जाता है वह कभी उसी प्रकार प्रकाश नहीं करता जिस प्रकार अग्निरहित (राख आदि) में रखा हुआ सूखा काठ प्रकाश नहीं करता। अतः अविज्ञात और अनर्थक हम न अध्ययन करें, इसके लिए व्याकरण पढ़ना चाहिये।

यस्तु प्रयुङ्क्ते—

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान्यथावत् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ॥

कः ? वाग्योगविदेव। यो हि शब्दान् जानाति अपशब्दानप्यसौ जानाति। यथैव शब्दज्ञाने धर्म एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः प्राप्नोति अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति। भूयांसो ह्यपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। यथा गौरित्येतस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिका इत्येवमादयः। अथ योऽवाग्योगविदज्ञानं तस्य शरणम्। विषम उपन्यासः। नात्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति। यो हि अजानन्वै ब्राह्मणं हन्यात् सुरां वा पिबेत् सोऽपि मन्ये पतितः स्यात्। एवं तर्हि कः ? अवाग्योगविदेव। अथ यो वाग्योगविद् ज्ञानं तस्य शरणम्।

अ०—शब्दों के व्यवहार के समय जो कुशलव्यक्ति अर्थ विशेष में शब्दों का उचित प्रयोग करता है, वह वाक् (शब्द) के योग (अर्थविशेष से सम्बन्ध) का जानने वाला स्वर्ग में अनन्त उत्कर्ष को प्राप्त करता है किन्तु अपशब्दों का प्रयोग करने से वह दूषित हो जाता है।

शङ्का करते हैं कौन (दूषित होता है), उत्तर देते हैं वाग्योगविद् ही जो शब्दों को जानता है वही अपशब्दों को भी जानता है। जिस प्रकार शब्द के ज्ञान में

धर्म होता है इसीप्रकार अपशब्द के ज्ञान में अधर्म भी होता है। अथवा यों कहिये कि वहुत अधर्म होता है क्योंकि अपशब्द अधिक हैं और शब्द थोड़े। एक-एक शब्द के अनेक-अनेक अपभ्रंश हैं, जैसे—केवल 'गौः' इस शब्द के लिए 'गावी, 'गोणी' 'गोता' 'गोपोतलिका' इत्यादि अपभ्रंश हैं। जो वेचारा अवाग्योगविद् होता है उसके लिए अज्ञान ही शरण है। भाई विचित्र स्थिति है। सर्वथा अज्ञान ही शरण नहीं हो सकता है। जो न जानता हुआ भी ब्राह्मण का बध करे अथवा मदिरा पिये वह भी पतित होता है, ऐसा समझा जाता है, तो इस स्थिति में कौन (दूषित होता है)। अवाग्योगविद् ही (दूषित होता है) और जो वाग्योगविद् होता है उसके लिए तो ज्ञान शरण है।

अविद्वांसः—

अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत् ॥

स्त्रीवन्मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्।

अ०—जो अवैयाकरण प्रत्यभिवादन (प्रणाम के उत्तर) में नामों को प्लुत करके उच्चारण करना नहीं जानते हैं उनके विषय में प्रवास से लौटने के वाद 'यह मैं आगया' ऐसा उसी प्रकार कहे जैसे (प्रवास से लौटने के बाद) स्त्रियों के विषय में कहा जाता हैं। प्रणाम करते समय स्त्रियों के विषय में जैसा कहा जाता है वैसा ही हमारे विषय में भी न कहा जाय, इसके लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये।

विभक्तिं कुर्वन्ति—

याज्ञिकाः पठन्ति—'प्रयाजाः सविभक्तिकाः कर्तव्याः' इति। न चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम्। तस्मादध्येयं व्याकरणम्।

अ०—विभक्तियाँ जोड़ी जानी चाहिये क्योंकि याज्ञिक लोग पढ़ते हैं—'प्रयाज मन्त्रों को सविभक्तिक कर लेना चाहिये'। इस स्थिति में व्याकरण के ज्ञान विना प्रयाज मन्त्रविशेषों को सविभक्तिक नहीं कर सकते। इसलिए व्याकरण पढ़ना चाहिये।

यो वा इमाम्—

यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशो वर्णशो वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति।

आर्त्विजीनाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम्।

अ०—जो इस वाणी के प्रत्येक पद, प्रत्येक स्वर, प्रत्येक अक्षर, प्रत्येक वर्ण

को समझकर वाणी का प्रयोग करता है वह यजमान होता है। यजमान हों, इसलिए व्याकरण पढ़ना चाहिए (ऋत्विजमर्हत्यार्त्विजीनो यजमानः । ऋत्विक्कर्मार्हतीति याजकोऽप्यार्त्विजीनः । यज्ञर्त्विग्भ्यां घरबजाविति इति सूत्रेण यज्ञर्त्विग्भ्यां तत्कर्मार्हतीति चोपसंख्यानमिति च वार्तिकेन खञ् । विद्वान् यजेत विद्वान्याजयेदिति द्वयोरपि विदुषोरधिकारात् ।—कैयट, महाभाष्य पस्पसाह्निक ।)

चत्वारि[1]—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥
(ऋ० सं० ४।५८।१)

चत्वारि शृङ्गा चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च । त्रयो अस्य पादास्त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः । द्वे शीर्षे सुपस्तिङश्च । सप्त हस्तासः सप्त विभक्तयः । त्रिधा बद्धः त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे शिरसि च । वृषभो वर्षणात् कामानाम् । रोरवीति रौतिः शब्दकर्मा । महो देवो मर्त्यां आविवेश । महता देवेन नस्तादात्म्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम् ।

अथवा, चत्वारि—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥
(ऋ० सं० १।१६४।४५)

ये मनीषिणः मनस ईषिणो मनीषिणः । गुहायां त्रीणि निहितानि

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय ने 'वेद भाष्यभूमिका संग्रह' में इस श्लोक पर टिप्पणी दी है—

'गूढार्थाभिसम्पन्नोऽयं मन्त्रः स्वशास्त्रानुकूलं विविधविधं व्याख्यातो विभिन्नैः शास्त्रकृद्भिः । तत्र महादेवात्मकस्य शब्दस्य स्वरूपवर्णनमिति भगवान् पतञ्जलिः । काव्यपुरुषस्य स्वरूपवर्णनेति कविशेखरो राजशेखरः (काव्यमीमांसाया द्वितीयाध्याये) । यज्ञपुरुषस्य नियतस्वरूपप्रतिपादनमिति निरुक्तिभास्करो यास्कः (निरुक्त परिशिष्टे १३।७) । पातञ्जलं मतमुपरिष्टात् वर्णितमेव । राजशेखरमतं तु काव्यमीमांसायामवलोकनीयम् । निरुक्तकारस्याभिप्रायस्तु निरुक्तपरिशिष्टतो (१३।७) ज्ञेयः । मन्त्रस्यास्य व्याख्यानावसरे सायणाचार्या एवमाहुः—यद्यपि सूक्तस्यास्याग्निसूर्यादि पञ्चदेवताकत्वात् पञ्चधाऽयं मन्त्रो व्याख्येयः, तथापि निरुक्ताद्युक्तनीत्या यज्ञात्मकाग्नेः सूर्यस्य च प्रकाशत्वेन तत्परतया व्याख्यायते । शाब्दिकास्तु शब्दब्रह्मपरतया व्याचक्षते । अपरे तु अपरथा । इति ।'

नेङ्गयन्ति न चेष्टन्ते न निमिषन्ति। तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति । तुरीयं ह वा एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्त्तते।

अ०—इसके चार सींगें, तीन पाद, दो शिर, सात हाथ हैं। यह तीन प्रकार से बँधा हुआ वृषभ महान् देव, शब्द करता है और मृत्युलोक के प्राणियों में प्रविष्ट है।

इसका तात्पर्य बतलाते हैं कि चार सींगें अर्थात् चार पदसमूह नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात हैं (कुछ विद्वान् चार पदसमूह का अर्थ परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी भी मानते हैं)। तीन पाद अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीन काल हैं। दो शिर अर्थात् सुप् और तिङ् हैं। सात हाथ अर्थात् सात विभक्तियाँ हैं। तीन प्रकार से बँधा हुआ अर्थात् तीन स्थानों उरः, कण्ठ, शिर में बँधा हुआ है। वृषभ अर्थात् कामनाओं की वर्षा करने वाला है। रोरवीति अर्थात् शब्द करता है क्योंकि रु धातु का अर्थ शब्द करना है। उस महान् देव ने मर्त्यलोक में प्रवेश किया। उस महान् देव (शब्द) के साथ जैसे हमलोगों का तादात्म्य हो जाय, इसके लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

अथवा, वाणी चार[1] पदों से ही परिमित है। उन पदों को जो मनीषी ब्राह्मण (साङ्गवेद को जानने वाले) हैं वे जानते हैं। तीन भाग गुहा में छिपे हुए हैं और कोई चेष्टा नहीं करते। मनुष्य वाणी के चतुर्थ भाग को ही बोलते हैं।

'मनीषिणः' की व्युत्पत्ति 'मनसः ईषिणः' अर्थात् मन पर अधिकार पाने वाले हैं। गुहायां-गुहा अर्थात् अज्ञानरूपी अँधेरी गुफा में तीन भाग छिपे हुए हैं। वे न चेष्टा करते हैं, न पलक मारते हैं। वाणी के तुरीय भाग को मनुष्य बोलते हैं

---

१. निरुक्तपरिशिष्टे मन्त्रस्यास्य व्याख्यायां (नि० १३।९) चत्वारि पदानि विविधविधान्येव प्रतिपादितानि विभिन्नैर्विद्वद्भिः स्वस्वशास्त्राभिप्रायमनुरुणद्धिः। तानि च यथा—

'ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्। नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः (नागेश भट्ट ने चार पदों का अर्थ परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी किया है और उन्होंने महाभाष्य से संगति लगाने के लिए 'निपाताश्च' के चकार के आधार पर उक्त चारों (परा पश्यन्ती आदि) अर्थ हैं, ऐसा कहा है।) मन्त्रः कल्पो व्याकरणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः। ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः। सर्पाणां वाग्, वयसां, क्षुद्रस्य, सरीसृपस्य, चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके (अधिभूतविदः)। पशुषु तूणवेषु मृगे त्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादाः"।

—आचार्य बलदेव उपाध्याय, वेद भाष्यभूमिकासंग्रह के उक्त श्लोक पर टिप्पणी।

क्योंकि कहा है कि वह वाणी का चतुर्थ भाग है जो मनुष्य के व्यवहार में है।

उत त्वः—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।

उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

(ऋ० सं० १०।७१।४)

अपि खल्वेकः पश्यन्नपि न पश्यति। अपि खल्वेकः शृण्वन्नपि न शृणोत्येनाम्। अविद्वांसमाहार्धम्। त्वस्मै अन्यस्मै तन्वं विसस्रे तनुं विवृणुते। जायेव पत्य उशती सुवासाः। यथा जाया पत्ये कामयमाना सुवासाः स्वमात्मानं विवृणुते एवं वाग् वागविदे स्वम् आत्मानं विवृणुते। वाक् स्वं नो विवृणुयात् इत्यध्येयं व्याकरणम्।

अ०—एक (अवैयाकरण) वाणी को देखता हुआ भी देख नहीं पाता। वैसे ही एक (अवैयाकरण) उसे सुनता हुआ भी सुन नहीं पाता किन्तु जिस प्रकार कामिनी भार्या सुन्दर कपड़ों से सजी-धजी पति के उद्देश्य से अपने शरीर को उद्घाटित कर देती है उसी प्रकार एक (वैयाकरण) के लिए वाणी अपने स्वरूप को उद्घाटित कर देती है।

एक (अवैयाकरण) वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता है तथा एक (अवैयाकरण) इसे सुनता हुआ भी नहीं सुनता है। आधे मन्त्र से अवैयाकरण के बारे में कहा गया है और एक (वैयाकरण) के लिए अपने शरीर को उद्घाटित कर देती है, सुन्दर कपड़ों वाली कामिनी जाया जिस प्रकार पति के लिए। जैसे सुन्दर कपड़ों से युक्त कामिनी जाया पति के लिए अपने आपको उद्घाटित करती है इसी प्रकार वाणी वाग्विद् के लिए अपने आपको विवृत कर देती है। वाणी, हमलोगों के लिए, अपने आपको विवृत करे, इसके लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

सक्तुमिव—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।

अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥

(ऋ० सं० १०।७१।२)

सक्तुः सचतेर्दुर्धावो भवति। कसतेर्वा स्याद्विपरीतस्य विकसितो भवति। तितउ परिवपनं भवति ततवद्वा तुन्नवद्वा। धीरा ध्यानवन्तो। मनसा प्रज्ञानेन वाचमक्रत वाचमकृषत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते। अत्र सखायः सख्यानि संजानते सायुज्यानि जानते। क्व ? य एष दुर्गमो मार्ग एकगम्यो वाग्विषयः। के पुनस्ते ? वैयाकरणाः। कुत एतत् ? भद्रैषां

लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि। एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति। लक्ष्मी-र्लक्षणात् भासनात्परिवृढा भवति।

अ०—जिस प्रकार चलनी से सत्तू चाल लिया जाता है उसी प्रकार पण्डित लोग वाणी को शुद्ध कर (साधु-असाधु शब्दों का विवेचन कर) उसका उच्चारण करते हैं। और ऐसी स्थिति में विद्वान् लोग शब्दब्रह्म से सायुज्य प्राप्त कर लेते हैं। यह इसलिए होता है कि इन लोगों की वाणी में कल्याणकारिणी लक्ष्मी (स्व-प्रकाश ब्रह्मरूप) निवास करती है।

सक्तु शब्द सच् धातु से निष्पन्न हुआ हुआ है, सच् धातु का अर्थ समवाय, चिपकना है, अतः सक्तु का शोधन कठिन है। अथवा √कस् विकसने धातु से भी वर्ण विपर्यय करने से सक्तु शब्द वनता है। अतः इसका अर्थ विकसित होने वाला भी है। तितउ शब्द का अर्थ संशोधन करने वाला है। विस्तारयुक्त अथवा बहुत से छिद्रों से युक्त होने के कारण इसे तितउ (चलनी) कहते हैं। 'धीरा' का अर्थ ध्यानवान् है। 'मनसा' का अर्थ 'प्रज्ञानेन' है। 'वाचमक्रत' का अर्थ 'वाचमकृपत' अर्थात् अपशब्दों से वाक् को अलग करते थे, ऐसा है। 'अत्रा सखायः सख्यानि जानते' का अर्थ है—विद्वान् लोग शब्द ब्रह्म के साथ सायुज्य का अनुभव करते हैं। तात्पर्य यह कि वैयाकरण लोग शब्द और अर्थ के बीच एकत्व की भावना करते हैं। प्रश्न करते हैं कि वह एकत्व की भावना कहाँ होती है? जो यह दुर्गम मार्ग (मोक्ष) एक मात्र ज्ञान उपलब्ध होने योग्य है तथा जो वेद रूप वाणी का विषय है। पुनः प्रश्न करते हैं कि वे समान ज्ञान वाले कौन हैं? उत्तर देते हैं कि वैयाकरण। फिर पूछते हैं, कैसे वे समान ज्ञान प्राप्त करते हैं? उत्तर है कि इनकी वाणी में कल्याणमयी सर्वपोषक, ब्रह्मरूप जो लक्ष्मी है वह निवास करती है। इन लोगों की वाणी में भद्रा (कल्याणमयी) लक्ष्मी निवास करती है। लक्ष्मी वह है जो लक्षण (भासन) अर्थात् प्रकाशित होना इस गुण के कारण अज्ञान के निवर्तन में समर्थ होती है।

सारस्वतीम्

याज्ञिकाः पठन्ति—'आहिताग्निरपशब्दं प्रयुञ्जानः प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत्' इति।

प्रायश्चित्तीया मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम्।

अ०—सारस्वतीम् भी व्याकरण का प्रयोजन है। याज्ञिकलोग पढ़ते हैं—'अपशब्द का प्रयोग करने वाला आहिताग्नि व्यक्ति प्रायश्चित्त के लिए सारस्वती देवता को उद्देश्य करके इष्टि करे।'

प्रायश्चित्त करने वाले हम न हों इसके लिए व्याकरण पढ़ना चाहिए।

दशम्यां पुत्रस्य—

दशम्यां पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्याद् घोषवदाद्यन्तस्थमभिनिष्ठान्तं द्वयक्षरं चतुरक्षरं वा। कृतं नाम कुर्यान्न तद्धितान्तमिति।

न चान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम्। तस्मादध्येयं व्याकरणम्।

अ०—नवजात पुत्र का नाम दशवें दिन करना चहिये। उस नाम का आद्यक्षर घोष, मध्य अक्षर अन्तःस्थ तथा अन्त में विसर्ग होना चाहिये। नाम दो अथवा चार अक्षर वाला होना चाहिये। नाम कृदन्त होना चाहिये, तद्धितान्त नहीं। व्याकरण के विना कृत् और तद्धित का ज्ञान करना शक्य नहीं है। इसलिए व्याकरण पढ़ना चाहिये।

सुदेवो असि—

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥ (ऋ० सं० ८।६९।१२)

सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयः। काकुज्जिह्वा। सास्मिन् विद्यते इति काकुदं तालु। सूर्मिः स्थूला लोहप्रतिमेति।

एवं 'सिद्धे शब्दार्थसंवन्धे' इत्यादिवार्तिकोक्तान्यत्रापि प्रयोजनान्यनुसंधेयानि।

अ०—सुदेवो असि व्याकरण का प्रयोजन है। हे वरुण तुम सुदेव हो क्योंकि जिस प्रकार भीतर से खोखली किसी सुन्दर लौहप्रतिमा में प्रवेश कर उसके मल को जलाकर आग उसे शुद्ध कर देती है उसी प्रकार सात नदियों की भाँति सात विभक्तियाँ जिस तुम्हारे तालु-प्रदेश में बहती हैं।

सात नदियों का अर्थ सात विभक्तियाँ हैं। काकुद् का अर्थ जिह्वा है। वह जीभ इसमें है इसलिए काकुद् तालु को कहते हैं। सूर्मि का अर्थ है स्थूल लौह प्रतिमा।

इस प्रकार 'सिद्धे शब्दार्थसम्वन्धे' इत्यादि वार्तिकों में कहे गये प्रयोजन यहाँ भी समझने चाहिये।

निरुक्त विवरण

अथ निरुक्तप्रयोजनमुच्यते। अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्। 'गौः ग्मा ज्मा क्ष्मा क्षा क्षमा' इत्यारभ्य 'वसवः वाजिनः देवपत्न्यो देवपत्न्यः' इत्यन्तो यः पदानां समाम्नायः समाम्नातस्तस्मिन् ग्रन्थे पदार्थावबोधाय परापेक्षा न विद्यते। एतावन्ति हिरण्यनामानि इत्येवं तत्र तत्र विस्पष्टमभिहितत्वात्। तदेतन्निरुक्तं त्रिकाण्डम्।

अ०—अब निरुक्त का प्रयोजन कहा जाता है। अर्थज्ञान में निरपेक्षरूप में जो पदसमूह कहा गया है वह निरुक्त है। गौः ग्मा, ज्मा, क्ष्मा, क्षा, क्षमा इससे आरम्भ कर; वसवः, वाजिनः, देवपत्न्यो, देवपत्न्यः तक जो पदों का समूह कहा गया है उस ग्रन्थ में पदार्थ के ज्ञान के लिए दूसरे शास्त्रों की अपेक्षा नहीं है क्योंकि इतने हिरण्य के नाम हैं। इसप्रकार उन-उन स्थलों में स्पष्ट रूप से कहा गया है। सो यह निरुक्त त्रिकाण्ड है।

तच्चानुक्रमणिकाभाष्ये दर्शितम्—

'आद्यं नैघण्टुकं काण्डं द्वितीयं नैगमं तथा।
तृतीयं दैवतं चेति समाम्नातस्त्रिधा स्थितः॥
गौराद्यापारपर्यन्तमाद्यं नैघण्टुकं मतम्।
जहाद्युल्बमृबीसान्तं नैगमं संप्रचक्षते॥
अग्न्यादिदेवपत्न्यन्तं देवताकाण्डमुच्यते।
अग्न्यादिदेवीऊर्जाहुत्यन्तः क्षितिगणो गणः॥
वाय्वादयो भगान्ताः स्युरन्तरिक्षस्थदेवताः।
सूर्यादिदेवपत्न्यन्ता द्युस्थाना देवता इति।
गवादिदेवपत्न्यन्तं समाम्नायमभिधीयते'॥ इति॥

अ०—और उसे अनुक्रमणिका भाष्य में दिखलाया गया है—

पहला नैघण्टुक काण्ड, दूसरा नैगम तथा तीसरा दैवत काण्ड है। इस प्रकार वह पदसमूह तीन प्रकार का है। 'गौ' से 'अपारे' पर्यन्त पहला नैघण्टुक काण्ड है। 'जहा' से 'अल्वम् ऋबीसम्' तक नैगम काण्ड है। 'अग्नि' से 'देवपत्नी' तक देवता काण्ड कहलाता है। देवताकाण्ड में 'अग्नि' से 'देवी ऊर्जाहुति' तक पृथ्वी स्थानीय देवताओं का समूह है। 'वायु' से 'भग' तक अन्तरिक्षस्थानीय देवता हैं। 'सूर्य' से 'देवपत्नी' तक द्युस्थानीय देवता हैं। 'गौ' से 'देवपत्नी' तक को समाम्नाय कहते हैं।

एकार्थवाचिनां पर्यायशब्दानां संघो यत्र प्रायेणोपदिश्यते तत्र निघण्टुशब्दः प्रसिद्धः। तादृशेषु अमरसिंहवैजयन्तीहलायुधादिषु दश निघण्टव इति व्यवहारात्। एवमत्रापि पर्यायशब्दसंघोपदेशादाद्यकाण्डस्य नैघण्टुकत्वम्। तस्मिन् काण्डे त्रयोऽध्यायाः। तेषु प्रथमे पृथिव्यादिलोक-दिक्कालादिद्रव्यविषयाणि नामानि। द्वितीये मनुष्यतदवयवादिद्रव्य-विषयाणि। तृतीये तदुभयद्रव्यगतबहुत्वह्रस्वादिधर्मविषयाणि।

निगमशब्दो वेदवाची। यास्केन तत्र तत्र 'अपि निगमो भवति' इत्येव वेदवाक्यानामवतारितत्वात्। तस्मिन्निगम एव प्रायेण वर्तमानानां शब्दानां

चतुर्थाध्यायरूपे द्वितीयस्मिन् काण्डे उपदिष्टत्वात् तस्य काण्डस्य नैगमत्वम् ।

अ०—एकार्थवाची पर्यायशब्दों का समूह प्रायः जहाँ रहता है उसके लिए निघण्टु शब्द का व्यवहार होता है क्योंकि उसी प्रकार के अमरसिंह, वैजयन्ती, हलायुध आदि में दश निघण्टु हैं, ऐसा व्यवहार होता है। इसीप्रकार यहाँ भी पर्याय शब्द के समूह का उपदेश होने के कारण प्रथम काण्ड को नैघण्टुक काण्ड कहते हैं। इस काण्ड में तीन अध्याय हैं। उनमें प्रथम में पृथ्वी आदि लोक, दिशायें, काल, आदि द्रव्य विषयक नाम हैं। द्वितीय में मनुष्य और उसके अवयव आदि विषयक नाम हैं। तृतीयकाण्ड में उन दोनों काण्डों में कहे गये द्रव्यों में रहने वाले वहुत्व ह्रस्वत्व आदि धर्म विषयक नाम हैं।

निगम शब्द वेदवाची है क्योंकि यास्क ने, उन-उन स्थानों पर 'अपि निगमो भवति' इसप्रकार कहकर, वद वाक्यों का अवतरण किया है। उस वेद में ही प्रायः वर्तमान शब्दों का चतुर्थाध्यायरूप इस द्वितीय काण्ड में उपदेश होने के कारण उस काण्ड को नैगम काण्ड कहते हैं।

पञ्चमाध्यायरूपस्य तृतीयकाण्डस्य दैवतत्वं विस्पष्टम् ।

पञ्चमाध्यायरूपकाण्डत्रयात्मक एतस्मिन् ग्रन्थे परनिरपेक्षतया पदजातस्योक्तत्वात्तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तत्वम् । तद्व्याख्यानं च 'समाम्नायः समाम्नातः' इत्यारभ्य 'तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवत्यनुभवति' इत्यन्तैर्द्वादशभिरध्यायैर्यास्को निर्ममे। तदपि निरुक्तमित्युच्यते, एकैकस्य पदस्य संभाविता अवयवार्थास्तत्र निःशेषेण उच्यन्ते इति व्युत्पत्तेः । तत्र हि 'चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च' इति प्रतिज्ञाय 'उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति' इति निपातस्वरूपं निरुच्यैवमुदाहृतम् 'नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायामुभयमन्वध्यायं नेन्द्रं देवममंसत इति प्रतिषेधार्थीयः' इति, दुर्मदासो न सुरायामित्युपमार्थीयः (निरुक्त १।१।४) इति च। तच्च लोके केवलप्रतिषेधार्थीयस्यापि नकारस्य वेदे प्रतिषेधोपमालक्षणोभयार्थोदाहरणमस्मिन् ग्रन्थेऽवगम्यते। एवं ग्रन्थकारेणोक्ताः तत्तत्पदनिर्वचनविशेषाः तत्तमन्त्रव्याख्यानावसरे एवास्माभिरुदाहरिष्यत्ते । न च निर्वचनानां निर्मूलत्वं शङ्कनीयम् । एतद्व्युत्पत्त्यर्थमेव ब्राह्मणेषु पदनिर्वचनानां केषांचिदुक्तत्वात्—'तदाहुतीनामाहुतित्वम्' (ऐत० ब्रा० १।१।२) इति, 'तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते' (ऐत० ब्रा० २।४।३) इति, 'यदप्रथयत् तत् पृथिव्या पृथिवीत्वम्' (तै० ब्रा० १।१।३।६-७) इति च। ग्रन्थकारोऽपि तत्र तत्र स्वोक्तनिर्वचनमूलभूतब्राह्मणानि उदाहरिष्यति । केषांचिन्निर्वचनतां व्याकरणबलेन सिद्धावपि न सर्वेषां सिद्धिरस्ति।

अत एव ग्रन्थकार आह—'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थ-साधकं च (निरुक्त १।१५) इति। तस्मात् वेदार्थावबोधायोपयुक्तं निरुक्तम्।

अ०—पञ्चमाध्यायरूप तृतीयकाण्ड का दैवत होना स्पष्ट है। पञ्चाध्याय-रूप तीन काण्डों वाले इस ग्रन्थ में दूसरे शास्त्रों की बिना अपेक्षा के ही पदार्थों के कहने के कारण उस ग्रन्थ का निरुक्तत्व सिद्ध है। 'समाम्नायः समाम्नातः' इससे आरम्भ कर 'तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवत्यनुभवति' तक बारह अध्यायों से उस निरुक्त का व्याख्यान, यास्क ने किया। उसको भी निरुक्त कहते हैं क्योंकि एक-एक पद के सम्भावित जितने अवयवार्थ हैं सभी सम्पूर्णरूप में वहाँ (यास्क के व्याख्यान में) कहे जाते हैं, ऐसी व्युत्पत्ति है। उस व्याख्यान में चार प्रकार के पद होते हैं, नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात, ऐसी प्रतिज्ञा करके, 'ऊँचे नीचे अर्थों में गिरते हैं, ऐसा निपात के स्वरूप की निरुक्ति करके, इस प्रकार उदाहृत किया है। 'न' यह लौकिक भाषा में निषेध अर्थ वाला है किन्तु वेद में दोनों (निषेध और उपमा) अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। 'नेन्द्रं देवममंसत' (इन्द्र को देवता नहीं माना) यहाँ प्रतिषेध अर्थवाला 'न' है तथा 'दुर्मदासो न सुरायाम्' (सुरा के पी लेने पर कुत्सित मद वाले पुरुषों की भाँति) यहाँ उपमा अर्थवाला न है। सो लोक में केवल प्रतिषेध अर्थवाले भी नकार का वेद में प्रतिषेध और उपमा, इन दो अर्थों में प्रयोग है, ऐसा इस ग्रन्थ में उदाहरण देखा जाता है। इस प्रकार ग्रन्थकार के द्वारा कहे गये वे-वे पद निर्वचन विशेष उस-उस मन्त्र के व्याख्यान के समय ही उदाहरण रूप में दिये जायेंगे। ये निर्वचन निर्मूल हैं; ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि इस व्युत्पत्ति के लिए ही ब्राह्मणों में किन्हीं पदों के निर्वचनों को कहा गया है—'तदाहुतीनाम् आहुतित्वम्', 'तमिदिन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते' 'यदप्रथयत तत् पृथिव्याः पृथिवीत्वम्' आदि। ग्रन्थकार भी वहाँ-वहाँ अपने निर्वचन के मूलभूत ब्राह्मणों का उदाहरण देंगे। किन्हीं निर्व-चनों की व्याकरण के आधार पर सिद्धि होने पर भी सभी निर्वचनों की सिद्धि नहीं होती है। इसीलिए ग्रन्थकार कहते हैं—'इसीलिए यह विद्यास्थान (निरुक्त) व्याकरण की पूर्ति करने वाला और वेदार्थज्ञान का साधक है।' इसलिए वेद के अर्थावबोध के लिए निरुक्त उपयुक्त है।

छन्दः प्रयोजन निरूपण

तथा छन्दोग्रन्थोऽप्युपयुज्यते, छन्दोविशेषाणां तत्र तत्र विहितत्वात्। 'तस्मात् सप्त चतुरुत्तराणि छन्दांसि प्रातरनु वाकेऽनूच्यन्ते' (तै० ब्रा० १।५।१२।१) इति ह्याम्नातम् गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगती-

त्येतानि सप्त छन्दांसि। चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री। ततोऽपि चतुर्भिरक्षरैरधिकाष्टाविंशत्यक्षरोष्णिक्। एवमुत्तरोत्तराधिका अनुष्टुबादयोऽवगन्तव्याः। तथान्यत्रापि श्रूयते—'गायत्रीभिर्ब्राह्मणस्यादध्यात्। त्रिष्टुभी राजन्यस्य जगतीभिर्वैश्यस्य' (तै० ब्रा० १।१।९।६-७) इति। तत्र मगणयगणादिसाध्यो गायत्र्यादिविवेकश्छन्दोग्रन्थमन्तरेण न सुविज्ञेयः। किंच 'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति प्र वा मीयते पापीयान् भवति। तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्' (का० अ० १।१) इति श्रूयते। तस्मात् तद्वेदनाय छन्दोग्रन्थ उपयुज्यते।

अ०—उसी प्रकार छन्दोग्रन्थ का भी उपयोग किया जाता है क्योंकि उन उन स्थानों पर विशेष प्रकार के छन्दों का विधान किया गया है। 'इसलिए क्रमशः चार-चार अक्षरों से अधिक होने वाले सात छन्दों का प्रातरनुवाक में उच्चारण होना चाहिये, ऐसा कहा गया है। गायत्री उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, ये सात छन्द हैं। चौबीस अक्षरों वाली गायत्री है। उससे भी चार अक्षरों से अधिक अर्थात् अट्ठाईस अक्षरों वाली उष्णिक् है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर अधिक अनुष्टुप् आदि छन्द होते हैं, ऐसा समझना चाहिये। उसी प्रकार अन्यत्र भी यह सुना जाता है—गायत्री छन्दों वाले मन्त्रों से ब्राह्मण का, त्रिष्टुप् छन्द वाले मन्त्रों से राजन्य का, और जगती छन्द वाले मन्त्रों से वैश्य का अग्न्याधान करे'। अब यहाँ मगण, यगण आदि से साध्य गायत्री आदि का विवेक छन्दोग्रन्थ के बिना सरलता से ज्ञातव्य नहीं है। ऋषि, छन्द, देवता और ब्राह्मण जिन मन्त्रों के ज्ञात नहीं है उन मन्त्रों से जो यज्ञ कराता है अथवा उन्हें जो पढ़ाता है वह 'स्थाणु' होता है, गर्त में गिरता है, नष्ट हो जाता है अथवा पाप का भागी होता है'। इसलिए प्रत्येक मन्त्र में इन्हें जानना चाहिये, ऐसा सुना जाता है। इसलिए उसे जानने के लिए छन्दोग्रन्थ का उपयोग किया जाता है।

ज्यौतिषशास्त्र प्रयोजन

ज्योतिषस्य प्रयोजनं तस्मिन्नेव ग्रन्थे विहितम्—'यज्ञकालार्थसिद्धये' (वेदाङ्गज्योतिष ३) इति। कालविशेषविधयश्च श्रूयन्ते। संवत्सरमेतद् व्रतं चरेत्' (तै० आ० १।३२।१), 'संवत्सरमुख्यं भूत्वा' (तै० सं० ५।६।५।१) इत्येवमादयः संवत्सरविधयः। 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्य आदधीत, शरदि वैश्य आदधीत' (तै० ब्रा० १।१।२।६-७) इत्याद्या ऋतुविधयः 'मासि मासि पृष्ठान्युपयन्ति, मासि मासि अतिग्राह्य गृह्यन्ते' (तै० सं० ७५।१५) इत्याद्या मासविधयः। 'यं कामयेत वसीयान्स्या-

दिति तं पूर्वपक्षे याजयेत्' (तै० सं० २।२।३।१) इत्याद्याः पक्षविधयः। 'एकाष्टकायां दीक्षेरन्' 'फाल्गुनीपूर्णमासे दीक्षेरन्' (तै० सं० ७।४।८।१) इत्याद्यास्तिथिविधयः। 'प्रातर्जुहोति सायं जुहोति' इत्याद्याः प्रातःकाल-विधयः। कृत्तिकास्वग्निमादधीत' (तै० ब्रा० १।१।२।१) इत्याद्या नक्षत्र-विधयः। अतः कालविशेषान् अवगमयितुं ज्योतिषमुपयुज्यते।

अ०—ज्योतिष का प्रयोजन उसी ग्रन्थ में विहित है कि 'यज्ञ के समय की सिद्धि के लिए।' कालविशेष की विधियाँ सुनी जाती हैं—'सम्वत्सरमेतद्व्रतं चरेत्' (एक सम्वत्सरपर्यन्त यह व्रत करे)' 'सम्वत्सरमुख्यं भूत्वा' (एक वर्ष तक पात्र में अग्नि रखकर) आदि इस प्रकार की सम्वत्सर विधियाँ हैं। 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्य आदधीत, शरदि वैश्य आदधीत' (वसन्त ऋतु में ब्राह्मण, ग्रीष्म में राजन्य और शरद में वैश्य अग्न्याधान करे) इत्यादि ऋतुविधियाँ हैं। 'मासि मासि सत्रपृष्ठानि उपयन्ति, मासि मासि अतिग्राह्या गृह्यन्ते' (महीने-महीने में सत्रपृष्ठ आते हैं, महीने महीने में अतिग्रह गृहीत होते हैं) इत्यादि मासविधियाँ है। 'यं कामयेत वसीयान् स्यात् इति तं पूर्वपक्षे याजयेत्' (जिसको समृद्ध बनाना चाहें उससे शुक्ल पक्ष में यज्ञ कराये) इत्यादि पक्षविधियाँ हैं। 'एकाष्टकायां दीक्षेरन् फाल्गुनीपूर्णमासे दीक्षेरन्' (एकाष्टका में दीक्षा ले फाल्गुनी पूर्णिमा में दीक्षा ले) इत्यादि तिथिविधियाँ हैं। 'प्रातर्जुहोति, सायं जुहोति' (प्रातः हवन करे, सायं हवन करे) इत्यादि प्रातः काल आदि की विधियाँ हैं। 'कृत्तिकास्वग्निमादधीत' (कृत्तिकाओं में अग्नि का आधान करे) इत्यादि नक्षत्रों की विधियाँ हैं। अतः कालविशेषों को समझने के लिए ज्योतिष का उपयोग किया जाता है।

एतेषां च वेदार्थोपकारिणां षण्णां ग्रन्थानां वेदाङ्गत्वं शिक्षायामेव-मुदीरितम्—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥

(पा० शि० ४१-४२) इति।

अ०—इन वेदार्थोपकारक छहों ग्रन्थों का वेदाङ्गत्व शिक्षा में ही कहा गया हैं। छन्द वेद के पैर हैं, कल्प हाथ हैं, ज्योतिष चक्षु हैं, निरुक्त कान है, शिक्षा वेद की नाक है और व्याकरण मुख कहा गया है। ईसलिए अङ्गों सहित वेद का अध्ययन कर ही ब्रह्म लोक में पूजित होता है।

पुराणादिचतुर्दशविद्याओं की वेदार्थज्ञान में उपयोगिता

षडङ्गवत् पुराणादीनामपि वेदार्थज्ञानोपयोगो याज्ञवल्क्येन स्मर्यते–

'पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥

(या० स्मृ० १।३) इति ।

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरेदिति ॥'

इत्यन्यत्रापि स्मर्यते। ऐतरेयतैत्तिरीयकाठकादिशाखासूक्तानि हरिश्चन्द्रनाचिकेताद्युपाख्यानानि धर्मब्रह्मावबोधोपयुक्तानि तेषु तेष्वितिहासग्रन्थेषु स्पष्टीकृतानि । उपनिषदुक्ताः सृष्टिस्थितिलयादयो ब्राह्मपाद्मवैष्णवादिपुराणेषु स्पष्टीकृताः ।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

इति सृष्ट्यादेः पुराणप्रतिपाद्यत्वावगमात् ।

अ०—छहों अङ्गों की तरह ही पुराण आदि का भी वेदार्थज्ञान में उपयोग है, इसे याज्ञवल्क्य ने कहा है ।

पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, छह अंगों के साथ चार वेद ये धर्म के चौदह विद्यास्थान हैं । दूसरी जगह भी कहा गया है कि इतिहास और पुराणों के आधार पर वेद का समुपबृंहण करे । अल्पश्रुत (कम पढ़े लिखे) से वेद डरता है कि कहीं यह मेरे ऊपर प्रहार न कर बैठे।

ऐतरेय, तैत्तिरीय, काठक आदि शाखाओं में कहे गये धर्म और ब्रह्म के ज्ञान के लिए उपयुक्त हरिश्चन्द्र नचिकेता आदि के उपाख्यान उन-उन इतिहास ग्रन्थों में स्पष्ट किये गये हैं । उपनिषद् में कही गयी सृष्टि, स्थिति और प्रलय आदि, ब्रह्म पुराण, पद्म पुराण, वैष्णव पुराण आदि में स्पष्ट किये गये हैं क्योंकि सृष्टि, प्रलय, वंश, मन्वन्तर और वंशों का इतिहास ये पाँच पुराण के लक्षण हैं ऐसा सृष्टि आदि का पुराण के द्वारा प्रतिपाद्यत्व का बोध होता है ।

न्यायशास्त्रे प्रमाणप्रमेय-संशयप्रयोजनदृष्टान्तादीनां षोडशपदार्थानां निरूपणात् । तदनुसारेण इदं वाक्यमस्मिन्नर्थे प्रमाणं भवति, नेतरदिति निर्णयः कर्तुं शक्यते। पूर्वोत्तरमीमांसयोर्वेदार्थोपयोगोऽतिस्पष्ट एव । मन्वत्रिविष्णुहारीतादिप्रोक्तासु स्मृतिषु वेदोक्तसंध्यावन्दनादिविधयः प्रपञ्चिताः। 'तदु ह वा एते ब्रह्मवादिनः पूर्वाभिमुखाःसंध्यायां गायत्र्याभिमन्त्रिता आपः ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति' (तै० आ० २।२) इत्यादिकः संध्या-

वन्दनविधिः। 'पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते' (तै० आ० २।१०) इत्यादिको महायज्ञविधिः। एवं विध्यन्तराणि द्रष्टव्यानि। उक्तप्रकारेण पुराणादीनां वेदार्थज्ञानोपयोगात् विद्यास्थानत्वं युक्तम्।

अ०—न्यायशास्त्र में प्रमाण; प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, आदि षोडश पदार्थों का निरूपण होने के कारण उसके अनुसार यह वाक्य इस प्रकार अर्थ प्रमाण होता है। दूसरा वाक्य नहीं, ऐसा निर्णय किया जा सकता है पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा का वेदार्थ में उपयोग अत्यन्त स्पष्ट है। वेद में उक्त सन्ध्या, वन्दनादि विधियाँ, मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत आदि के द्वारा कहीं गयी स्मृतियों में विस्तार से वर्णित हैं। ये ब्रह्मवादी पूर्वाभिमुख होकर सन्ध्या समय गायत्री से अभिमन्त्रित जल ऊपर को फेंकते हैं, इत्यादि सन्ध्यावन्दन का विधान है 'ये पाँच महायज्ञ विस्तार पूर्वक किये जाते हैं, इत्यादि महायज्ञ विधियाँ हैं इसी प्रकार दूसरी विधियाँ समझनी चाहिये। उक्त प्रकार से पुराण आदि का, वेदार्थज्ञान में उपयोग होने के कारण, विद्यास्थानत्व उचित ही है।

एतैः पुराणादिभिः चतुर्दशभिर्विद्यास्थानैरुपबृंहिताया विद्याया ग्रहणेऽधिकारिविशेषः शाखान्तरगतैश्चतुर्भिर्मन्त्रैरुपदर्शितः। तांश्च मन्त्रान् यास्क उदाजहार (निरुक्त १।४)।

तत्रायं प्रथमो मन्त्रः—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

विद्याभिमानिनी देवता ब्राह्मणमुपदेष्टारमाचार्यमाजगाम। आगत्य एवं प्रार्थयामास। हे ब्राह्मण, मामनधिकारिणेऽनुपदिश्य पालय। तवाहं निधिवत् पुरुषार्थहेतुरस्मि। तादृश्यां मयि तदुपदेष्टरि त्वयि च योऽसूयां करोति। यश्चार्जवेन विद्यां नाभ्यस्यति। योऽपि स्नानाचमनाद्याचारनियतो न भवति। तादृशेभ्यः शिष्याभासेभ्यो मां न ब्रूयाः। तथा सति त्वद्हृदये स्थित्वा फलप्रदा भवेयम्।

अ०—इन पुराण आदि चौदह विद्यास्थानों से उपबृंहित विद्या के ग्रहण में अधिकारि-विशेष, शाखान्तर में प्राप्त चार मन्त्रों से, समझाया गया है। उन मन्त्रों को यास्क ने उदाहृत किया है, उनमें यह पहला[1] मन्त्र है—

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इस श्लोक की मनुस्मृति के श्लोक से तुलना की है देखें—

मनुरपि अस्यैव मन्त्रस्यार्थमित्थं प्रकटी चकार स्वीयस्मृतौ—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मातास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥ (म० स्मृ० २।११४)

विद्या ब्राह्मण के पास गयी और बोली कि मेरी रक्षा करो मैं तुम्हारी निधि हूँ। हे ब्राह्मण, बस इतना करना कि मुझे निन्दक को, कुटिल को और असंयमी को मत देना। इस तरह मैं बलवती हो जाऊँगी।

विद्याभिमानिनी देवता उपदेष्टा आचार्य ब्राह्मण के पास आयी। आकर उसने प्रार्थना की कि हे ब्राह्मण, अनधिकारी व्यक्ति के लिए उपदेश न कर मेरी रक्षा करो। मैं निधि की तरह तुम्हारे पुरुषार्थ का हेतु हूँ। वैसी मुझमें, उसके उपदेष्टा तुममें जो असूया (दोष कथन) करता है और जो विनयपूर्वक विद्या का अभ्यास नहीं करता है और जो स्नान आचमन आदि आचार से संयमी नहीं है, वैसे शिष्याभासों (ढोंगी शिष्यों) के लिए मुझे न कहना (मेरा उपदेश न करना) वैसा होने पर तुम्हारे हृदय में रहकर मैं फलप्रदा हो जाऊँ।

अथ द्वितीयो मन्त्रः—

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्।
तं मन्यते पितरं मातरं तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह ॥ इति ॥

पूर्वस्मिन् मन्त्रे आचार्यस्य नियममभिधाय अस्मिन् मन्त्रे शिष्यस्य नियमोऽभिधीयते। वितथमनृतमपुरुषार्थभूतं लौकिकं वाक्यम्। तद्विपरीतं सत्यं वेदवाक्यमवितथम्। तादृशेन वाक्येन य आचार्यः शिष्यस्य कर्णौ आतृणत्ति सर्वतस्तर्दनं पूरणं करोति। उपसर्गवशादौचित्याच्च तृणत्तिधातोरर्थान्तरे वृत्तिः। सर्वदा वेदं यः श्रावयति इत्यर्थः। किं कुर्वन्? अदुःखं कुर्वन्। मन्दप्रज्ञस्य माणवकस्य आदौ अर्धर्चमृचं वा ग्रहीतुमशक्तस्य यथा दुःखं न भवति तथा पादं पादैकदेशं वा ग्राहयन्। किंच अमृतं संप्रयच्छन्। अमृतत्वस्य देवजन्मना मोक्षस्य वा प्रापकत्वादमृतं वेदार्थः। तस्य प्रदानं कुर्वन्। तं तादृशमाचार्यं सच्छिष्यो मुख्यमातापितृरूपं मन्येत। पूर्वसिद्धौ तु मातापितरौ अधमस्य मनुष्यशरीरस्य प्रदानादमुख्यौ। तस्मै मुख्यमातापितृरूपायाचार्यायैकममपि द्रोहं न कुर्यात्।

अ०—यह द्वितीय[1] मन्त्र है। जो आचार्य को कष्ट न पहुँचाता हुआ, तथा देवत्व अथवा मोक्ष का प्रापक वेदार्थ को देता हुआ वेद वाक्यों से शिष्य के कानों

---

१. तुलनीय—

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ (म०स्मृ० २।१४५)

को भर देता है (वेदवाक्यों को कानों में सुनाता है), उस आचार्य को पिता और माता समझें तथा उस आचार्य से कोई भी द्रोह न करे।

पहले मन्त्र में आचार्य के नियम को कहकर इस मन्त्र में शिष्य के नियम को कहते हैं। लौकिक वाक्य वितथ = झूठे = अपुरुषार्थभूत हैं, उससे विपरीत वेदवाक्य अवितथ = सत्य हैं। वैसे वाक्य से जो आचार्य शिष्य के कानों को सभी ओर से भर देता है अथवा उपसर्ग के कारण और औचित्य होने के कारण 'तृणत्ति' धातु का अर्थान्तर में वृत्ति होने से (अर्थ होगा), जो सर्वदा वेद को सुनाता है। क्या करता हुआ ? कष्ट न देता हुआ—प्रारम्भ में मन्दबुद्धि वाले बालक के लिए जो आधी ऋचा या सम्पूर्ण ऋचा को ग्रहण करने में अशक्त है उसे जिस प्रकार दुःख न हो उस प्रकार ऋचा के एक पाद का अथवा पाद के एक देश को ग्रहण कराता हुआ। और अमृत देता हुआ। (अमृत बताते हैं) अमृतत्व अर्थात् देवत्व अथवा मोक्ष का प्रापक होने के कारण वेदार्थ को अमृत कहा गया है, उसका प्रदान करता हुआ। वैसे उस आचार्य को सत्पात्र शिष्य मुख्य माता-पिता के रूप में समझें। अधम मनुष्य शरीर के उत्पादक पूर्वसिद्ध माता-पिता अमुख्य (गौण) हैं। उस मुख्य माता-पितृरूप आचार्य के लिए एक भी द्रोह न करे।

अथ तृतीयो मन्त्रः—

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
अथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥ इति ॥

ये तु अधमा विप्रा गुरुणाध्यापिताः सन्तो विनयोक्त्या तदीयहितचिन्तनेन शुश्रूषया वा गुरुं नाद्रियन्त आदरसहितास्ते शिष्याभासा गुरोर्न भोजनीयाः, अनुभवयोग्या न भवन्ति। न हि तेषु गुरुः कृपां करोति। यथैव गुरुणा ते न पालनीयास्तथैव तानधमान् शिष्यान् तत् श्रुतं गुरूपदिष्टं वेदवाक्यं न पालयति, फलप्रदं न भवतीत्यर्थः।

अ०—यह तीसरा मन्त्र है—पढ़ाये गये जो विप्र, वाणी, मन अथवा कर्म से, गुरु का आदर नहीं करते हैं वे जिसप्रकार गुरु द्वारा रक्षणीय नहीं हैं उसीप्रकार उनकी विद्या भी उनकी रक्षा नहीं करती।

जो तो अधम विप्र गुरु के द्वारा पढ़ाये गये होकर विनयशीलवाणी से गुरु के हितचिन्तन से अथवा सेवा से गुरु का आदर नहीं करते वे असत् शिष्य गुरु द्वारा रक्षणीय, अनुभव योग्य नहीं होते उनपर गुरु कृपा नहीं करते। जिस प्रकार गुरु के द्वारा वे पालनीय नहीं हैं उसी प्रकार उन अधम शिष्यों को वह उनके द्वारा सुना गया गुरु के द्वारा उपदिष्ट वेदवाक्य रक्षा नहीं करता, फलप्रद नहीं ।

अथ चतुर्थो[१] मन्त्रः—

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।

यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ।।इति ।।

हे आचार्य, यमेव मुख्यशिष्यं शुचित्वादिगुणोपेतं जानीयाः । किंच यो मुख्यशिष्यस्तुभ्यं कदाचिदपि न द्रुह्येत् । तस्मै तु मुख्यशिष्याय त्वदीयनिधिपालकाय ब्रह्मन् वेदरूपां मां विद्यां ब्रूयाः ।

इत्थं विद्यादेवतया प्रार्थितत्वादाचार्येण मुख्यशिष्याय वेदविद्योपदेष्टव्या । तदर्थमृग्वेदोऽस्माभिः षडङ्गानुसारेण व्याख्यायते ।

अ०—यह चौथा मन्त्र हैं—हे ब्राह्मण, जिसे ही तुम पवित्र, प्रमादरहित, मेधावी और ब्रह्मचारी जानों और जो तुमसे कभी द्रोह न करे उस विधि के पालन करने वाले के लिए मुझे कहो (मेरा उपदेश करो ।)

हे आचार्य, किसी मुख्य शिष्य को पवित्र आदि गुणों से युक्त जानो और जो मुख्य शिष्य तुमसे कभी द्रोह न करे उस तुम्हारी विधि के पालन का मुख्य शिष्य के लिए वेद रूप विद्या मुझको कह दो (मेरा उपदेश कर दो) । इस प्रकार विद्या-देवता द्वारा प्रार्थित होने से आचार्य के द्वारा मुख्य शिष्य के लिए वेद विद्या का उपदेश करना चाहिये ।

इसीलिए छहों अङ्गों के अनुसार ऋग्वेद का मैं व्याख्यान करता हूँ ।

११८८२.

१. तुलनीय—यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतं ब्रह्मचारिणम् ।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ।।—म० स्मृति० २।११५

DATE DUE

हमारे महत्वपूर्ण छात्रोपयोगी प्रकाशन

जिसमें मूल पाठ के साथ संस्कृत-हिन्दी टीका, भूमिका
नोटस एवं अन्य छात्रोपयोगी सामग्री हैं :

अभिज्ञानशाकुन्तल	सुबोधचन्द्र पन्त	१०.००
उत्तररामचरित	आनन्द स्वरूप	१२.००
कादम्बरी (कथामुख)	रतिनाथ झा	३.००
काव्यदीपिका	परमेश्वरानन्द	६.००
किरातार्जुनीय	जनार्दनशास्त्री पाण्डेय (१-६ सर्ग)	७.००
कुमारसंभव	जगदीशलाल शास्त्री (१-५ सर्ग)	५.००
चन्द्रालोक	सुबोधचन्द्र पन्त	३.७५
नागानन्दनाटक	संसारचन्द्र	५.००
नीतिशतक	जनार्दन शास्त्री	२.००
पंचतंत्र	श्यामाचरण पाण्डेय	१०.००
प्रतिमानाटक	श्रीधरानन्द शास्त्री	३.५०
प्रसन्नराघव	रमाशंकर त्रिपाठी	८.००
बालचरित	कमलेशदत्त त्रिपाठी	२.५०
भट्टिकाव्य	पाण्डेय, शुक्ल (१-८ सर्ग)	१२.००
मृच्छकटिक	रमाशंकर त्रिपाठी	१३.५०
मालविकाग्निमित्र	संसारचन्द्र	७.५०
मेघदूत	संसारचन्द्र	७.००
रघुवंश	धारादत्त शास्त्री (१-१९ सर्ग)	३०.००
रत्नावलीनाटिका	रमाशंकर त्रिपाठी	३.७५
रामाभ्युदययात्रा	श्यामाचरण पाण्डेय	४.००
वृत्तरत्नाकर	श्रीधरानन्द शास्त्री	५.००
वेणीसंहार	रमाशंकर त्रिपाठी	७.००
शिशुपालवध	जनार्दन शास्त्री पाण्डेय (१-४ सर्ग)	५.५०
स्वप्नवासवदत्त	जयपाल विद्यालंकार	[illegible].५०
साहित्यदर्पण	शालिग्राम शास्त्री	१६.००
सौन्दरनन्दकाव्य	सूर्यनारायण चौधरी	
हितोपदेश-मित्रलाभ	विश्वनाथ शर्मा	

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली • पटना • वाराणसी